SRI SHIVGEETA

श्रीपद्मपुराणान्तर्गत-

श्रीशिवगीता

हिन्दी व्याख्या :
स्वामी ईश्वरानन्दगिरि

प्रकाशक :
संवित् साधनायन
संतसरोवर
आबू पर्वत

मुद्रक
शांतिलाल हरजीवन शाह
नवजीवन मुद्रणालय अहमदाबाद–१४

अनुवादकीय

वेदान्त परम्परा में स्कन्दपुराणान्तर्गत सूतसंहिता एक गौरव-पूर्ण स्थान रखती है । ऐसी मान्यता है कि भगवान भाष्यकार आचार्य श्रीशंकर ने शारीरकभाष्य लिखने के पूर्व सूतसंहिता का सत्रह बार अवलोकन किया था । इससे इस ग्रन्थ का महत्त्व प्रकट है । सूतसंहिता के साथ प्रकृत शिवगीता ग्रन्थ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है । श्रुति-अनुचरी सूतसंहिता पर अवलंबित होने से ही शिवगीता में भी वेद की विशिष्ट परिभाषा, प्रक्रिया, प्रतीकत्व, अनुभूति प्रधानता, रसपूर्ण गम्भीरता, विशाल दृष्टि आदि को पाते हैं ।

ऐसा विदित होता है कि एक समय विद्वत् समुदाय में शिव-गीता का आदर पूर्वक प्रचुर सेवन हुआ है । श्रीविद्या के सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीभास्करराय ने शिवरहस्य में उपलब्ध शिवाष्टोत्तर-शतनाम की व्याख्या करते समय शिव-कृपा के उज्ज्वल दृष्टान्त रूप से शिवगीता का उल्लेख किया है । अमूल्य उपकरणों से मण्डित होने पर भी परवर्ती काल में वेदान्तप्रिय जनता के अन्दर शिवगीता का विशेष प्रचार क्यों नहीं हुआ — इस प्रश्न पर अनु-सन्धान करना यहाँ इष्ट नहीं है । व्यक्तिगत रूप से जहाँ कहीं भी हमें स्वाध्याय व प्रवचन का अवसर प्राप्त हुआ, वहाँ हमने साधकों के ध्यान को शिवगीता की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया । फलस्वरूप, नित्य अभ्यास करने के इच्छुक अध्येता वर्ग को शिवगीता के प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद का अभाव अनुभूत होनें लगा ।

श्रीज्वालाप्रसाद मिश्र कृत एक हिन्दी अनुवाद "श्री वेंकटे-श्वर स्टीम प्रेस," बम्बई से सम्वत् १९९४ में प्रकाशित हुआ था (वे. पुस्तक) । उसकी प्रतियाँ सरलतया उपलब्ध नहीं हैं । उस अनुवाद में मूल का अर्थ कई स्थलों में अस्पष्ट है तथा गूढ़ार्थ

उद्घाटन का भी विशेष प्रयत्न नहीं किया गया (उदाहरणार्थ अध्याय ३.२१, अध्याय ९.१०)। इन कमियों की पूर्ति के लिये प्रकृत अनुवाद, विशेष व्याख्या सहित, प्रकाशित किया जा रहा है।

"निर्णयसागर मुद्रणालय", बम्बई से सन् १९२४ एवं १९२९ में क्रमशः शिवगीता मूल मात्र (नि. मू. पुस्तक) एवं बालानन्दी संस्कृत व्याख्या सहित (नि. बा. पुस्तक), दो संस्करण प्रकाशित हुए थे। इन संस्करणों के मूल पाठ में भेद है। जहाँ जो पाठ समीचीन प्रतीत हुआ उसी को अपनाकर प्रकृत ग्रन्थ में संशोधित पाठ प्रस्तुत कर रहे हैं। "निर्णयसागर" के संस्करणों में प्रत्येक अध्याय का श्लोक-संख्या विभाजन भी भिन्न-भिन्न है। अतः अर्थ की पूर्णता को दृष्टि में रखते हुए हमने इस विभाजन को यत्र-तत्र परिवर्तित कर दिया है। इसके अनुसार शिवगीता की श्लोक संख्या ७५८ है।

नि. मू. पुस्तक में ग्रन्थप्रारम्भ के पूर्व "अथ ध्यानम्" कह कर सात श्लोक दिये हैं, जिनमें ओंकार का वर्णन है। हमने उनमें से अन्तिम श्लोक को ही उपादेय मानकर स्वीकार किया है। इसके साथ नि. बा. पुस्तक में उपलब्ध शिवस्वरूप-प्रतिपादक एक सुन्दर श्लोक का भी संग्रह किया है।

शिवप्रदत्त उपदेशों के प्रारम्भ में यत्र तत्र "श्रीभगवान् उवाच" "ईश्वर उवाच" "शिव उवाच" आदि नाना प्रकार के उल्लेख पूर्व ग्रन्थों में देख कर, एकता लाने की इच्छा से, ऐसे स्थलों में सर्वत्र "श्रीशिव उवाच" ही रखा है। वे. पुस्तक में सोलहवें अध्याय के बाद क्रमशः साठ एवं पैंतीस श्लोकों के दो अध्याय मिलते हैं। सम्भवतः ये दोनों अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता के साथ साम्यता लाने की दृष्टि से जोड़ दिये गये हैं। अप्रमाणिक और व्यर्थ प्रतीत होने से इनका यहाँ समावेश नहीं किया गया।

अनुवाद करने में श्लोकों की भावोपलब्धि का दृष्टिकोण रहा है न कि मात्र शब्दानुवाद का ही। गरिष्ठ बिन्दुओं पर

प्रकाश डालने के लिये मूलानुवाद के बाद विशेष व्याख्या दी गई है। समस्त प्रसंगों का विस्तार करना इस ग्रन्थ की सीमा से बाहर है। अतः व्याख्या में संकेत मात्र दिये गये हैं। आशा है इन संकेतों को लेकर साधक सम्पूर्ण ग्रन्थ के मनन में प्रवृत्त हो सकेंगे।

विषयानुक्रम में ग्रन्थ प्रतिपादित प्रसंगों का संक्षिप्त उल्लेख है और ग्रन्थ के अन्त में श्लोकानुक्रम भी संलग्न है। श्रीमान् महामंडलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरिजी महाराज ने प्रेमपूर्वक इस ग्रन्थ की प्रशस्ति प्रस्तुत की है। श्रीमान् महामंडलेश्वर स्वामी-महेशानन्दगिरिजी महाराज ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका के द्वारा शिवगीता की उत्कृष्टता को व्यक्त करते हुए इस प्रकाशन की गरिमा को बढ़ा दिया है। पाठभेद-निर्णय आदि अनेक विषयों में समादरणीय श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकवरिष्ठ स्वामी विमलानन्दपुरीजी महाराज का अनुभवपूर्ण सहयोग हमें मिला है। हम इन यतीश्वरत्रय के आभारी हैं।

श्रीमती सीता हाँडा कृत भावपूर्ण चित्र से मुखपृष्ठ अलंकृत है। लिपि की तैयारी, श्लोकानुक्रम का निर्माण एवं प्राग्रूप संशोधन आदि में स्वामी संवित्सोमगिरि व श्रीराजेन्द्र वशिष्ठ ने विपुल परिश्रम किया है। शिवानुरक्ति से प्रेरित इन तीनों की निर्मल सेवा शिवतोषक सिद्ध हो।

श्रीजमुनादास भगवानदास ट्रस्ट, अहमदाबाद ने इस प्रकाशन के सम्पूर्ण अर्थव्यय-भार का वहन किया है। इनकी इस उदारता के लिये हम कृतज्ञ हैं।

आशा है वेदान्तप्रेमी, विशेषकर शिव-आदर्श से आविष्ट हृदय वाले, इस प्रकाशन की सहायता से साधना पथ पर चलते समय शिवभक्ति-रस की विवृद्ध मधुरिमा एवं सर्वात्म भाव के नित्य-नूतन हर्ष का अनुभव करते हुए अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकेंगे।

अनन्त चतुर्दशी, सं. २०२८ — सर्वं शिवमिति

अहमदाबाद — ईश्वरानन्दगिरि

प्रशस्ति

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धि का मार्गदर्शक वेद ही एक मात्र स्वतःप्रमाण है। वेदमूलक होने से वेदाविरुद्ध स्मृति, पुराण, इतिहास आदि को भी प्रामाणिक माना गया है। वैदिक धर्मावलम्बियों की ऐसी दृढ़धारणा रही है कि वेदार्थ को हृदयंगम कराने के लिये ही इतिहास पुराणादि की रचना हुई। अतएव कहा है — 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' इत्यादि।

वेद से लेकर पुराणादि सभी आर्षग्रन्थों में उक्त चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये अर्चनीय, चिन्तनीय तथा ज्ञेय रूप से परमेश्वर के सगुणसाकार, सगुणनिराकार एवं निर्गुणनिराकार रूप का प्रतिपादन देखा जाता है। इन्हीं रहस्यपूर्ण तत्त्वों को समझाने के लिये महर्षि वेदव्यास ने भगवद्गीता, शिवगीता, रामगीता आदि अनेक ग्रन्थरत्नों का निवेश पुराणों में किया है। अतः इन्हें उपनिषद् की संज्ञा भी दी गई है। उपनिषद् की दृष्टि से देखने पर भगवद्गीता से किसी भी अंश में शिवगीता अपना न्यून स्थान नहीं रखती है।

वेदों मे परमेश्वर को शिवनाम से ही सर्वाधिक सम्बोधित किया है। पञ्चदेव उपासना में शिव का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है एवं निर्गुणनिराकार तत्त्व को शिवनाम से ही सर्वत्र बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में शिवगीता का भूरिशः प्रचार-प्रसार करना आवश्यक था और प्रारम्भ में ऐसे ही था भी। पर मध्यकाल में सम्प्रदायवाद ने वेद के इस मौलिक सिद्धान्त के ऊपर बहुत ही कुठाराघात किया है। सम्प्रदायवादरूपी

झंझावात से बचाकर वैदिक सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करना सदा से वीतराग यतियों का ही काम रहा है। इसीलिये श्रीमत्परमहंस-परिव्राजक स्वामी ईश्वरानन्दगिरि जी महाराज ने श्रीशिवगीता के रहस्य को सुस्पष्ट हिन्दी भाषा में अभिव्यक्त करने का सफल प्रयास किया है।

आशा है इस हिन्दी व्याख्या से न केवल हिन्दी भाषा-भाषी व्यक्ति शिवगीता के रहस्य को समझेंगे, प्रत्युत यह व्याख्या अन्य भाषाओं में भी शिवगीता के रहस्य को समझाने के लिये विद्वानों को प्रेरणा देगी। हमने इस व्याख्या को देखकर प्रसन्नता के साथ गौरव का भी अनुभव किया। आशुतोष भगवान शंकर विद्वान लेखक को इस दिशा में सफलता प्रदान करें, जिससे कि वैदिक सिद्धान्त के अनेकधा प्रचार से जनकल्याण होवे।

इत्योंशम्।

प्रदत्त —
अनन्तश्री स्वामी विद्यानन्दगिरिजी महाराज, सर्वदर्शनाचार्य,
महामंडलेश्वर, श्रीकैलाश आश्रम,
ऋषिकेश।

भूमिका

वेदार्बुदाचलदरैककृतालयायै
लोपेशनिर्मलचितिप्रतिबिम्बितायै ।
कारुण्यभावपरिपूरितमानसायै
कस्यैचिदस्तु नमनं मम कालिकायै ।। १ ।।

श्यामां शैवजनप्रियां शिवरसेनाप्लावयन्तीं सदा
श्रीशैलार्बुदसंस्थितां सुजघनान्धर्मार्थकामप्रदाम् ।
तन्त्रीगानपरायणां सुमधुरान्तां वै महेशप्रियां
लोलाक्षीं ललितां स्मरामि सततं कैवल्यदान्निर्मलाम् ।।२।।

पाश्चात्य मनीषियों ने जिज्ञासा को ही प्रधान माना है, परन्तु भारतीय ऋषियों ने ज्ञान को उत्कृष्ट स्वीकारा है । Philosophy एवं दर्शन शब्दों में यह रहस्य प्रतिबिम्बित है । जिज्ञासा को ज्ञान में साधन द्वारा परिणत करना होता है । यही साधन धर्म नामसे कहा जाता है । न तो यूरोपियन दार्शनिक साधना का प्रतिपादन करते हैं, और न तत्रत्य साधक दार्शनिक विचार । भारत में इसके विपरीत सभी धर्मों का प्रारंभ विचार से एवं दर्शनों का पर्यवसान धर्म में हुआ है । न्यायादि आस्तिक एवं जैनादि नास्तिक दर्शनों ने इसी क्रम को स्वीकार कर भारतीय दर्शनों को एकरूपता प्रदान की है । इसी का प्रभाव विश्व में अनीश्वरवादी धर्मों के संस्थापना में गतार्थ हुआ । भारतेतर देशों में ईश्वर व धर्म का

अभिन्न संबन्ध है पर यहाँ सांख्य, मीमांसा दो अनीश्वरवादी आस्तिक धर्म हैं, तो बौद्ध और जैन दो अनीश्वरवादी नास्तिक धर्म भी। इसी प्रकार शैव, वैष्णव, शाक्त आदि ईश्वरवादी, एवं स्मार्त आदि अनेकदेववादी, तथा पौराणिक अनेकेश्वरवादी साधनों के भेदों से आरम्भ कर दर्शन की भित्ति निर्माण करने में प्रवृत्त हुये। हमने किसी भी दर्शन को तभी अनुपादेय समझा जब वह व्यावहारिक साधन प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा, एवं जब धर्म अपनी दार्शनिक नींव का निर्माण न कर सका तब उसे अन्धविश्वासप्रसूत स्वीकारा। इस प्रकार हिन्दूविश्व में दर्शन व धर्म का वही स्थान है जो आधुनिक विज्ञान में सिद्धान्त (Theory) व प्रयोग (Applied) का।

इस विशिष्ट दृष्टि को मूलतः वेदों ने प्रस्तुत किया। वस्तुतः वेद का सर्वथा निरादर करनेवाले सम्प्रदाय भी वेदच्छाया से वैसे ही पराभूत रहे जैसे आधुनिक साम्यवाद एवं मानवतावाद ईसाई धर्म से। शुद्ध वैदिक परम्परा में दोनों पक्ष ऐसे मिश्रित हैं जैसे एक पक्षी के दो पंख उड्डयन में अथवा दो ओष्ठ कथन में। महर्षि वाल्मीकि ने 'उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां' से यही बताया है। वेदों में से जिज्ञास्य पक्ष का विस्तार ब्रह्मसूत्रों में किया गया तथा धर्मपक्ष का भगवद्गीता में। परन्तु इन ग्रन्थों में संक्षेप इतना कर दिया गया कि अदीक्षित उनमें अधिकृत न रहा। अतः भिन्न भिन्न प्रकरणों का श्रौत पक्ष अवगत कराने के लिये अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें से वर्तमान शिवगीता भी एक है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सामान्य भक्त जनता के लिये होने से हम ऐतिहासिक एवं बहिरंग विचार अधिक नहीं करेंगे। पर इसे पुराणान्तर्गत स्वीकारने से इसका काल उसी के अधीन मानना पड़ता है। पद्मपुराण एक वैष्णव पुराण है एवं वर्तमान पद्मपुराण में शिवगीता का स्थल उपलब्ध नहीं है। अतः इसे तबतक स्वतंत्र ग्रन्थ भी माना जा सकता है। इसके भाव, भाषा तथा प्रक्षिप्तांश व पाठभेदों के बाहुल्य से इसे गुप्तकालीन

कृति मानना समीचीन प्रतीत होता है । षोडशशताब्दी में इसकी एक टीका लिखी गई है एवं इसका उद्धरण एक चौदहवीं शताब्दी के हस्तलेख में पाया गया है ।

वस्तुतः गीता का अर्थ है गाई गई । शिव ने मानो राम के सामने स्वात्मारामता के उल्लास में इसे गाया है । अतः इसे शिवगीता कहा गया है। भगवद्गीता में अर्जुन युद्ध से निवृत्त हो यतिधर्म का आश्रयण करना चाहता है एवं कृष्णोपदेश से उसका यह मोह निवृत्त होकर उसे युद्धप्रवृत्त बनाया गया है । इसके विपरीत राम अगस्त्य के कहने पर भी वैराग्यपक्ष अस्वीकार करके स्पष्ट कहते हैं कि अर्थनाश से ज्ञान वैराग्य में प्रवृत्ति नराधम का लक्षण है (३.१२)। वे शिवभक्ति में पाशुपतास्त्र प्राप्त्यर्थ सकामभाव से प्रवृत्त हैं (५–१४), एव शिव उन्हें उपदेश करुणावश होकर करते हैं कि कहीं मेरे अमोघ दर्शन को पाकर भी अज्ञानवश श्रीराम कैवल्यमार्ग के अनधिकारी न रह जावें। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करनेवाले श्रीकृष्ण तथा स्वयं युद्ध में प्रवृत्त श्रीराम वस्तुतः प्रवृत्ति प्रधान विष्णु के अंश हैं । शिवगीता में स्वयं निवृत्तिस्वरूप परात्पर शिव कहीं भी प्रवृत्ति के पक्ष का समर्थन न कर प्रवृत्ति का वैकल्पिक एवं निवृत्ति का ही तात्पर्येण प्रतिपादन करते हैं ।

भगवद्गीता का दार्शनिक पक्ष सांख्य एवं सात्वत (वैष्णवतंत्र) पक्षों का भी संग्राहक होने से अनेक स्थलों में संशयवाला हो पड़ा है । अतएव शंकरभगवत्पाद् अनेक स्थलों में वेदविरुद्धत्त्व की प्राप्ति दिखाकर प्राचीन वृत्तिकारों का खण्डन करने को बाध्य हो जाते हैं। परवर्ती काल में द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक दार्शनिक पक्षों को भगवद्गीता में सिद्ध करने का प्रयास है एवं तिलक, गाँधी, अरविन्द आदि ने कृष्णसम्प्रदाय (वासुदेव, नारायणीय) को वैदिक धर्म से भिन्न ही स्वीकार कर लिया । शिवगीता ने वेदोपनिषदों का अक्षरशः अनुगमन कर शुद्ध वैदिक शिवाद्वयवाद को ही स्वीकारा है, अतः इसके किसी भी स्थल में दर्शन संशयग्रस्त नहीं हो पाया

है। स्पष्टता ही इसकी व्याख्याओं की न्यूनता में कारण है। सामान्य साधक इसमें बिना दर्शनों के समन्वयों की उलझन के सीधा मार्ग अद्वैत साधना का पा लेता है। भगवद्गीता की तरह दर्शनों के समन्वयों की उलझनों में उसे उलझना नहीं पड़ता।

नैतिकपक्ष प्रधान रूप से प्रतिपादित करने से भगवद्गीता में रीतिपक्ष सर्वथा उपेक्षित हो गया है। नीति धर्म का अन्तःकरण है तो रीति उसकी देह। देह की उपेक्षा अन्तःकरण को भी बाधती ही है। भगवद्गीता के साधक को या तो किसी अन्य मार्ग से रीति को सीखना पड़ता है या उसे शून्यता महसूस होने लगती है। शिवगीता में नीति पक्ष व रीतिपक्ष के समन्वय का प्रयास है यद्यपि मेरे चित्त में यहाँ नीतिपक्ष की न्यूनता खटकती ही है। इस तरह संभवतः अनेक साधकों के लिये इन दोनों गीताओं की अन्योन्याश्रयता भी उपादेय हो सकती है।

भगवद्गीता सम्प्रदाय क्षात्र है। विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु एवं कृष्ण, अर्जुन आदि सभी क्षत्रिय थे। परन्तु शिवगीता सम्प्रदाय मिश्र सम्प्रदाय है। शिव से राम एवं स्वामी कार्तिकेय ने सुनी। स्वामी कार्तिकेय से सनत्कुमार एवं उनसे व्यास एवं व्यास से सूत को सुनाई गई। वस्तुतः शैव सदा से ज्ञान, योग तथा भक्ति पर अधिक बल देता रहा है, केवल मर्यादाओं पर नहीं। वेदों में व्रात्यकाण्ड इसी पक्ष का उपोद्बलक है। शैव सदा से मानवमात्र की समानता का प्रतिपादक है। वह सामाजिक जाति मर्यादाओं का खण्डक कभी नहीं, पर शिव के सामने सर्वसाम्य का प्रबल समर्थक है। दक्ष से लेकर आजतक शैवधर्म की इस उदारता का सभी पदाधिकारियों ने विरोध किया है। भगवान पद्मपादाचार्य के 'चाण्डालानपि दीक्षयेत्' जैसे वाक्यों, तथा भगवान सुरेश्वराचार्य के सर्वसंन्यास प्रतिपादक वाक्यों का आज उनकी तथा कथित गद्दियों पर बैठनेवाले भी विरोध करते देखे जाते हैं। वस्तुतः शिवागमों में वर्णाश्रमी तथा अवर्णी, अनाश्रमी आदि सभी को मुक्तिमार्ग में

अधिकृत किया है । यदि शैवधर्म पुनः जागरूक होजावे । तो वर्तमान हिन्दू धर्म के सारे आक्षेप हट जावें । शिवगीता में कहीं भी जाति को नहीं रखा गया है । सभी वर्णों, आश्रमों, जनेऊ न धारने वालों, स्त्रियों आदि का समानाधिकार (१६. २–४) भगवद्गीता के स्त्री, वैश्य, शूद्र की निम्नाधिकारिता प्रतिपादन से तुलना करने योग्य है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध वैदिक शैव धर्म कितना संग्राहक व उदार है ।

इस शैवधर्म में पाशुपतव्रत के द्वारा सभी मानव प्रवेश कर सकते हैं । सर्व पूर्ववासना जन्य पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं । अतः सर्वप्रथम महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम को इसी व्रत को कराया । इसमें अपना सर्वस्व शिवार्पण किया जाता है । वस्तुतः इस व्रत के बिना 'विश्वं शिवमयं पश्यति' (१६. १९) की स्थिति पाना असंभव है। शैवधर्म में ध्यान ही प्रधान साधन है । ध्यान के लिये जाति, आश्रम, शुद्धि, आसन, देश, काल आदि किसी की अपेक्षा न होने से यह सहज साधन भी है । (तत्रैव) शिवनाम-स्मरण, भस्मधारण, रुद्राक्ष आदि भी सहायक हैं ही। (तत्रैव) विग्रहों के भेद, पूजा प्रकार, मालाभेद, आसनवर्णन आदि साधक के उपादेय सभी का संग्रह शिवगीता में है, जो भगवद्गीता में अप्राप्य है ।

शिवगीता अद्वैत का प्रतिपादन विस्तार से करती है । भगवद्-गीता में यद्यपि अद्वैत ही स्वीकृत है, अतः तिलक व गांधी जैसे संन्यास विरोधी टीकाकारों ने भी गीता में अद्वैत को स्वीकारा है तथापि प्रकरणबद्ध वेदान्त वाक्य विचार वहाँ उपलब्ध नहीं । भगवद्गीता अद्वैत का साधनपक्ष ही पुष्ट कर पाई । शिवगीता में उसका विचारपक्ष भी प्रतिपादित है । वस्तुतः सांख्यपक्ष के वर्णन में गीता के कई अध्याय लग गये हैं । शिवगीता में सांख्य विचारों की विस्तृतोक्ति नहीं है एवं उसके स्थान में अद्वैत प्रतिपादन है।

इस विषय में दशमाध्याय विशेष रूपसे द्रष्टव्य है। चतुर्दशाध्याय में पंचकोशों का प्रतिपादन भी अवगन्तव्य है।

जैसे दर्शन व धर्म का एकीकरण भारतीय दर्शनों का वैशिष्ट्य है, वैसे ही मोक्ष की परमपुरुषार्थता एवं ज्ञान की साधनरूपता भी। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध एवं जैन सभी ने ज्ञान को ही मोक्ष का साधन स्वीकारा है। कामनाओं का अभाव एवं सारे जगत् के प्रति प्रेम भी सर्वत्र प्रतिपादित है। यद्यपि यवनपरवर्ती वैष्णवपन्थों ने भक्ति को अलग साधन मानकर मूल वैदिक धर्म से अनुप्राणित सभी दर्शनों से साधन भेद किया है, पर उन्होंने तो दर्शन व धर्म में भी भेद मानकर वस्तुतः भारतीय परम्परा का ही उच्छेद कर डाला है, अतः उनका विचार यहाँ इष्ट नहीं। इस शिवगीता में 'ज्ञानादेव विमुच्यते' (१.१९) से मोक्ष को ज्ञान-जन्य ही स्वीकारा है। 'एव' से अन्य उपायों का निषेध विविक्षित है। ज्ञान के प्रति श्रवण को ही कारण माना है 'श्रृण्वतो जायते ज्ञानम्' तथा श्रवण सारे वेदान्त वाक्यों का अहं रूपी शिव में समन्वय करना ही है (१३.२२)। गुरु ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता है। गुरुसेवा ही उपदेश प्राप्ति का एक मात्र साधन है तथा वैराग्य, श्रद्धा (१३. १८–१९), निर्मोह, समता, शान्ति, दान्ति (१३.२४) ही वे नियम हैं जो ज्ञानस्थैर्य के उपाय हैं। ये सभी बातें अद्वैतसाधनशास्त्र का अनुगमन कर के ही कही गई हैं। सभी प्राणियों में आत्मा एवं आत्मा में सभी प्राणिदर्शन को ही जीवन्मुक्ति बताकर (१३.३०) शिवगीता ने शिवाद्वयवाद को ही पुष्ट किया है। अतएव चित्तस्थैर्य के लिये सगुणोपासना प्रतिपादित की है। उपासना भेदों में अहंग्रहोपासना को श्रेष्ठ मानकर भगवान् बादरायण का समर्थन किया है। भगवद्गीता में न तो उपासना भेदों का शास्त्रीय विवेक है और न अहंग्रहोपासना का विस्तृत निरूपण। अतः शिवगीता की यह विशेषता साधकों को प्रिय लगेगी यह निःसन्दिग्ध है।

चतुर्थाध्याय में महादेव का जो रूप प्रतिपादित है, वह रस दृष्टि से विलक्षण है । साहित्य की छटा, तांत्रिक प्रतीकात्मकता व पौराणिक मानवीयता का सुन्दर समन्वय है । 'सदसत्संशया-विष्टमध्यदेशान्तराम्बराम्' (४.३३) बरबस रीतिकालीन साहित्य सम्राट् बिहारी के 'बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ' वाली नायिका का स्मरण दिलाता है, तो साथ ही 'सच्चेन्न विनश्येत, असच्चेन्नप्रतीयेत' का स्मरण दिला कर माया की सदस-द्विलक्षता भी स्मृति पथ में अनायास आ जाती है । 'क्वणत्कङ्कण-निध्वानैर्मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितैर्वीणावेणुस्वनैः' (५.९) का अनुप्रास एवं ध्वन्यनुकरण किस साहित्यकार के हृदय को न गुदगुदा देगा । इस प्रकार की साहित्यिकता का भगवद्गीता में अभाव ही है ।

शिवगीता का आठवाँ एवं नवाँ अध्याय देह का विस्तृत प्रतिपादन एवं गर्भ आदि का वर्णन आयुर्वेद के आधार पर करता है । इस में मरण आदि का भी वर्णन है । ये अध्याय स्पष्ट ही गरुडपुराण आदि पौराणिक मत के अनुरूप हैं । कई श्लोक तो सर्वथा एक जैसे हैं । वस्तुतः शिवगीता में अन्यत्र से उद्धरण लेना सर्वथा स्वीकृत माना है । अतः उपनिषद् हों या पुराण इसका अनुसरण है । ये अध्याय इसको पुराणान्तर्गत सिद्ध करनेमें पर्याप्त प्रमाण माने जा सकते हैं । इसी प्रकार शिवलिंग, माला, आसन के उपादान आदि के भेद जो सोलहवें अध्याय में विशेषकर कहे हैं वे तन्त्रानुगामी हैं । पर तंत्र का विशेष प्रभाव शिवगीता पर नहीं है यह स्पष्ट है ।

तैत्तिरीयशाखा की आनन्दमीमांसा में (साधु युवा) सच्चरित्रता व आशिष्ठता (optimistic) का ग्रहण है, जो यहाँ (११.३५) छोड़ दिया गया है । संभवतः भक्ति युग या यवनाक्रान्तता का प्रभाव यह माना जायगा । परन्तु हमें लगता है कि बौद्ध परवर्ती निराशावाद (pessimism) ही इसमें मूल कारण है । यह ऐतिहा-सिक सत्य है कि बुद्ध ने भारत में सर्व प्रथम नैराश्य का प्रचार

किया । सर्वदु:खवाद ने भारत को शनैः शनैः परलोकवाद में इतना रत कर दिया कि हमने सभी कार्यों में अपूर्व पर विचार करना प्रारंभ कर दिया एवं दृष्टि फल के प्रति उदासीन होते चले गये। शंकर एवं अभिनवगुप्त आदि ने समय समय पर पुनः ब्रह्मवाद एवं जीवन्मुक्ति पर बल दिया । ऐतिहासिक जानते हैं कि मुसलमानी सल्तनत का अन्तिम श्वास तक विरोध करनेवाले मेवाड़ के राणा एकलिंग के उपासक थे, विजयनगर के संस्थापक एवं संवर्धक विरूपाक्षेश्वर के, बल्लाल एकाम्रेश्वर के, शिवाजी शिवा के, कर्णाटक के उन्नायक बसव संगमेश्वर के आदि । इस प्रकार का निरन्तर संघर्ष न तो किसी वैष्णव राजा ने किया और न जैनों ने। इसका मूलकारण यही था कि वैष्णव सम्प्रदायों ने अपने को कभी वैदिक हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग नहीं माना कि वे हिन्दू राष्ट्र के लिये अपना सर्वस्व बलिदान कर दें । शैव ही आशिष्ठ रहा और अपना सर्वस्व झोंकता रहा । आज पुनः शैव धर्म का आशावाद आ जाये तो पुनः वैदिक धर्म जीवित हो जावे । वैष्णव व बौद्ध निराशावाद ही राष्ट्र की अवनति व विदेशी विचारकों की आलोचना का कारण है ।

शिवगीता में प्रतिपादित परतत्त्व 'निर्गुणस्सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः' के अनुरूप निर्गुण व सगुण दोनों ही रूप से नित्य है । सप्तमाध्याय में विश्वरूपदर्शन के द्वारा इसे स्पष्ट किया है। जो चन्द्रमौलि, त्रिनेत्र हैं वे ही सर्वरूप हैं, एवं पुनः वे ही विश्वोत्तीर्ण भी हैं । सगुण ही सर्वरूप एवं रुद्ररूप से प्रतीत होता है । वस्तुतस्तु यह दोनों ही इच्छागृहीत रूप होने से कल्पना ही हैं (७.२६) । आकाश की तरह अन्तःकरणों के भेद से ही ऐसे सभी भेद औपाधिक ही हैं (७.३५), वस्तुतः उपाधि भी शिवाभिन्न होने से केवल शिव ही परमार्थ भी है और व्यवहार भी । परिच्छिन्न रुद्र देह में अपरिच्छिन्न विश्वदेह की प्रतीति ही परिच्छिन्न व्यष्टि भाव में अपरिच्छिन्न समष्टि दृष्टि का प्रतिपादन करने में गतार्थ हैं ।

मुक्ति के लिये साकारविग्रह की अनुभूति आवश्यक नहीं, वरन् निराकारशिव तत्त्व, जो प्रज्ञान स्वरूप है एवं सभी देश, काल व वस्तुओं में एकरस से विद्यमान है, का अनुभव ही आवश्यक है। शिवगीता में दो गुरुतत्त्वों का वर्णन है। श्रीरामभद्र अगस्त्य से सीतावियोग के दूरीकरण का उपाय पूछते हैं एवं कहते हैं 'त्वत्तो नान्योस्ति मे गुरुः' (३.१३)— आप ही मेरे गुरु हैं। अगस्त्योपदिष्टि साधना के पूर्ण होने पर साक्षात् देवाधिदेव परात्पर पुरुषोत्तम पर-ब्रह्म सच्चिदानन्द शंकर ही दर्शन देकर कहते हैं 'मत्तो नान्योस्ति ते गुरुः' (७.४६) मैं ही तुम्हारा गुरु हूँ। अतः साकारविग्रह निराकार ज्ञान के उपदेश के लिये आवश्यक है, मोक्ष के लिये नहीं। प्रथम साधक सामान्य दीक्षा आदि से ईश्वर से ज्ञानप्राप्ति की योग्यता प्राप्त करता है, जैसे अगस्त्य से श्रीराम ने की। यह सामान्य मानवगुरु कर सकता है। मानो मध्यस्थ व्यक्ति दो व्य-क्तियों का परिचय कराता है। ईश्वर, गुरु और आत्मा तत्त्वत्रय ही यहाँ इष्ट है। खीष्टीय साधक पिता, (Father) पुत्र (Son) और पवित्रात्मा (Holy Ghost) से इन्हीं तत्त्वों को स्वीकारते हैं। परिचय के फलस्वरूप मानव गुरु अनावश्यक हो पड़ता है अतः गुरु ईश्वर में लीन हो जाता है। अब ईश्वर स्वयं ही अपने रूप को उपदेश से प्रकट करते हैं। तभी अनुभव होता है 'प्रतीतं जगदैकात्म्यं' (७.४०) जीव, जगत् व ईश्वर की एकरूपताका। भगवद्गीता में महाविष्णु नारायण के अवतार श्रीकृष्ण परमात्मा ही गुरु होने से मानवगुरु व ईश्वर का उपदेश एक साथ ही है, अतः यह भेद स्पष्ट नहीं हो पाया है। 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' (भगवद्गीता) तथा ईश्वरशरणागति (भगवद्-गीता १८.६१-६२) एवं गुरुशरणागति (भगवद्गीता १८.६६) के भेद प्रतिपादनादि से यद्यपि इसे गीताकार स्पष्ट करते हैं, पर शिव-गीता में यह स्वाभाविक हो गया है।

शिवगीता शिवाद्वयवाद की स्वयंप्रकाशता को सिद्धवत् मानकर चलती है । अतः स्वयंप्रकाशता को स्पष्ट रूप से समझना अत्यावश्यक है । भगवद्गीता में इसे सिद्ध करने का प्रयास नहीं है, परन्तु वहाँ इसे एक रहस्य मान लिया गया है । स्वयंप्रकाश उसे कहते हैं जो कभी भी न जाना जाने पर भी जाने हुये की तरह व्यवहृत हो । 'अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वयंप्रकाशत्वं । तात्पर्य है कि सदा विद्यमान रहते हुये भी ज्ञान का विषय न बने । वस्तुतः ज्ञान का विषय वही बनता है जो पहले अज्ञान का विषय हो । सदा विद्यमान होने से उसके अभाव का अभाव ही रहता है । अभाव से ही भाव खिलता है । अन्धकारमयी रात्रि ही प्रकाश को प्रस्फुटित करती है । शिव की नित्य विद्यमानता ही उसके ज्ञान को असंभव बना देती है । ज्ञान का विषय वही होता है जिस में कभी ज्ञानयोग्यता व्यक्त हो और कभी अव्यक्त । अर्थात् जो किसी ऐसे दूसरे तत्त्व पर आश्रित हो जिसके आने पर वह ज्ञानसम्बन्धवाली या ज्ञात हो, एवं जिसके न होने पर वह ज्ञानसम्बन्धरहित अर्थात् अज्ञात हो । व्यवहार में भगवान् कुमारिलभट्टपाद को मान्यता देने के कारण शांकरमत में आत्मा को ही वह तत्त्व माना गया जो अनात्म-तत्त्व को स्पर्श करके उसे ज्ञातता प्रदान करता है । आत्मा से ही अनात्मा ज्ञात होता है । शांकर सिद्धान्त आत्मा का अनात्मा से वास्तविक सम्बन्ध नहीं मानता क्योंकि आत्मा अधिष्ठान है, और अनात्मा अध्यस्त । रस्सी का रस्सी में दिखनेवाले साँप से सच्चा रिश्ता नहीं हो सकता । अथवा स्वप्न में परपुरुष से विवाह होने पर पतिव्रत खण्डित नहीं हो सकता । अतः कुमारिल मत से कुछ भेद करके इस विषय में सांख्य के अन्तःकरणवाद को भी मिश्रित करना पड़ा । द्वैतवादी होने से सांख्यमत अन्तःकरण को बाह्यपदार्थों के आकार का बनना स्वीकारता है । अन्तःकरण प्रकृति का ही कार्य होने से जगत की समान जाति का ही है । उसमें भार या स्थौल्य का अभाव सत्त्वगुणाधिक्य होने से है । इस जगत

की नकल रूप में बना अन्तःकरण कैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण होगा एवं ज्ञान बन जायगा—(सांख्य तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा की सबसे बड़ी पहेली है)। अतः कुमारिलमीमांसा का आत्मगतिवाद भी वेदान्त में अवच्छिन्नात्मगतिवाद या प्रतिबिम्बात्मगतिवाद रूप से लिया गया। यह बात दूसरी है कि परवर्ती अद्वैतवाद पर सांख्य व न्याय का अधिक प्रभाव होने से अन्तःकरणवाद अधिक मुखर हो पड़ा है। वस्तुतस्तु श्लोकवार्त्तिक एवं गागा भट्ट के भाट्टचिन्तामणि का गहन विचार हमें मानने को बाध्य करता है कि भट्टपाद आत्मा की गति का अर्थ देश में गति नहीं स्वीकारते। मीमांसा न तो परमाणुगति एवं न परिणामरूपी गति को ही आत्मा में स्वीकारता है। आत्मा का अतीन्द्रिय अमानस अलौकिक व्यापार जो ज्ञातता को उत्पन्न करता है, ही गति पद वाच्य है। अतः ज्ञान स्वयं कभी भी नहीं जाना जा सकता, पर पदार्थों में ज्ञातता रूपी फल उत्पन्न करने से स्वतः सिद्ध होता है। भगवान् सुरेश्वर ने इसी स्वयंप्रकाशता पर बल दिया है, एवं शिवाद्वयवाद का तो सांख्यवाद से इस विषय में सर्वथा मतवैचित्र्य है। शिवगीता भी ज्ञान को उस दीपक की तरह स्वीकारती है जो एक स्थल में रहकर ही सर्वत्र प्रकाश रूप से विद्यमान है एवं पदार्थ प्रकाश्यता से ही दीपक सत्ता अभिव्यक्त है। इस विषय में आधुनिक प्रकाश-गतिवाद (Wave theory of light) शिवगीता को अमान्य है (६.५५ एवं ७.२७)। अद्वैत सिद्धान्त में ये सभी ज्ञान वस्तुतः अज्ञान या तदेकदेश व तद्विकार में स्वतः सत्ता भाव से ज्ञानाभिन्न होकर प्रतीत होते हैं एवं इसीलिये आत्मा का स्वतःप्रकाशवाद निर्बाध रहता है, यह विषय दूसरा है।

निष्कर्ष हुआ कि शुद्ध संवित् सभी अन्य पदार्थों से इसीलिये भिन्न है कि वे उस पर स्वाभिव्यक्ति के लिये आश्रित हैं, एवं संवित् अपनी अभिव्यक्ति के लिये किसी परमुखापेक्षा को नहीं रखती, वरन् अपने से भिन्न सभी को व्यक्त करती है (६.४२)। अव्यक्त

का व्यक्त होना ही वेदान्त सिद्धान्त में सृष्टि है (१०.१३)। भगवान् सुरेश्वर का सिद्धान्त है 'अव्यक्तजगतो व्यक्तिरन्तर्यामी-प्रभावतः' कि वह साक्षी चिन्मात्र ही स्रष्टा या ईश्वर है। वेदान्त ईश्वरवाद को एक ऐसी भित्ति प्रदान करता है जो विश्व में सभी धर्मों से इसे श्रेष्ठ एवं अखण्डच बना देता है। यदि चिन्मात्र जाना जाता तो तात्पर्य होता कि उसके व्यक्त होने के लिये अन्य चित् अपेक्षित है क्योंकि व्यक्त को व्यक्त करना व्यर्थ है। इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त हो जाता (१०.७)। अतः 'अवेद्यत्व' एवं 'अपरोक्षव्यवहार योग्यत्व' दोनों निवेश आवश्यक भी हैं और पूर्ण भी। कौमारसिद्धान्त में ज्ञान ज्ञातता से अनुमेय माना गया जो असंगत है। सर्व प्रकाशक की प्रकाशरूपता अनुमेय नहीं मानी जा सकती। किंच अनुमेय होती तो अवेद्य न होती, अनुमानवेद्य ही हो जाती। अतः स्वयंप्रकाशता का सिद्धान्त मीमांसा व सांख्य दोनों से अधिक परिष्कृत शंकर भगवत्पाद के भाष्यों में किया गया है। किंच प्रकाश्यसत्ता एवं प्रकाशसत्ता अधिष्ठान व अध्यस्त होने से प्रकाश्य से सदा अस्पृष्ट रहेगी यह विलक्षण विशेषता अद्वैत की है। 'यत्र यद् अध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते' (शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र) अतः अज्ञानविशिष्ट या अज्ञानकार्यविशिष्ट चैतन्य से शुद्धचैतन्य में अशुद्धि संभव नहीं (२.७–८)। इसी से वेदान्त का मुक्तिवाद सद्योमुक्तिवाद है। अनन्तयुगों के पापों को क्षणमात्र में भस्म करने की सामर्थ्य केवल शिवापरोक्षता में है (१२.३५)। अद्वैती जीवन को इसीलिये बोझ न मानकर शिवात्मा का क्रीड़ांगन मानता है (१३.३२)। बौद्धों के 'सर्वं दुःखं' का उत्तर शैव देता है 'सर्वं आनन्दघनम्' (६.५०)।

जीव का वास्तविक स्वरूप शिव सिद्ध होने का तात्पर्य है कि प्रत्येक जीव भेद के परदे को फाड़कर शिवात्मभाव प्राप्त कर सकता है। यही मोक्ष है। इस मोक्ष के कई भेद संभव हैं।

प्राणप्रिय आराध्य देव के साथ जीना भी मोक्ष है। व्यक्तित्त्व विशिष्ट जीवन जो सामर्थ्य व भोग में सनातन स्वातंत्र्ययुक्त हो वह भी मोक्ष है। शुद्ध ब्रह्म में लीन होना भी मोक्ष है। इन सभी का वर्णन शिवगीता में किया है। (११.२५–२७)। परन्तु शैव एवं वैदिक जीवन्मुक्तिवाद एक विलक्षण देन है। अनिर्वाच्य मौन तत्त्व के साथ ईश्वर से भिन्नता की प्रज्ञप्ति का समाप्त होना हमें उस शान्ति व अभय को दे देता है जिसमें जीवन्मुक्त सक्रिय प्रतीत होने पर भी निष्क्रियात्मभाव में ही लीन रहता है। हमें सभी कुछ सत् (being) में प्रतीत होता है, न कि परिणति (becoming) में। सर्व सर्वत्र एवं पूर्ण प्रतीत होता है। मन मन न रहकर शिव बन गया है, अतः शिवभिन्न ज्ञान असंभव है। व्यक्ति अव्यक्ति हो जाता है और अव्यक्त ईश्वर व्यक्त हो जाता है। 'इदं सर्वोस्मीति मन्यते' (शतपथ ब्राह्मण) (१३.३०)। अद्वैत ज्ञान विश्व का नाशक नहीं, वरन् ब्रह्मविषयक अज्ञान का ही नाशक है। उसके बाद 'बालक्रीडनवत्सर्वं रूपनामादिकल्पनम्' (महानिर्वाण) सारा जगत एक खेल बन जाता है। यही वैदिकों की यात्रा का अन्त है। वस्तुतः तभी जीवन आरंभ होता है अन्यथा मृत्यु से ही मृत्यु को जाते रहते हैं। जिस प्रकार मृत्यु जीवन सापेक्ष है वैसे ही विषयसुख दुःखसापेक्ष है। 'विषयोत्थसुखस्य दुःखयुक्तत्त्वेप्यलयं ब्रह्मसुखन्न दुःखयुक्तम्। पुरुषार्थतया तदेव गम्यं न पुनस्तुच्छकदुःखनाशमात्रम्।' विषयसुख के पूर्व विषय कामना की अपूर्णता जन्य दुःख, प्राप्तिकाल में विषयह्रास या विषय नाश की आशंकाजन्य दुःख एवं वियोगकाल में दुःख अवश्यम्भावी है। तारतम्यादि दुःख को यहाँ नहीं गिना गया है। परन्तु शिवयोग नित्य होने से तज्जन्य सुख में तीनों काल की अतीतता से एक रसता ही रहेगी। अतः विवेकी कभी भी इन क्षणिक दुःखों की निवृत्ति को पुरुषार्थ नहीं स्वीकारता और न इनके लिये यत्न ही करता है। वरन् वह तो उस नित्य संवित् की गोद में ही लीन

होने के सुख की कामना को पुरुषार्थ मानकर प्रवृत्त होता है। जो ऐसा शैव है वही उस शिव को पा सकता है।

यद्यपि इस शिवात्मभाव की प्राप्ति ही शिवगीता का परमार्थ है, पर अनुभव है कि मनुष्य मूलतः भक्त है। उसे कोई न कोई वस्तु, व्यक्ति या उद्देश्य चाहिये जिस पर वह अपनी भक्ति को स्थिर कर सके। उसमें भी व्यक्तिपूजा प्रायः अनिराकरणीय है। आज के जन जीवन में भी देखते हैं कि केवल साम्यवाद ही नहीं माओ या स्टालिन की भक्ति, या लिंकन, चर्चिल, रूज़वेल्ट, गांधी, नेहरू, विनोबा की भक्ति के बिना प्रजातंत्रवाद, राष्ट्रवाद, जन-लाभवाद, अहिंसावाद, शान्तिवाद या सर्वोदयवाद की स्थिति नहीं हो पाती। यह अनाश्य अवस्था या अविवेकजन्येच्छा (instinct) गलत जगह होकर अवनति का कारण भी बनती है, पर आवश्य-कता है अवश्य। कई विचारक थोथे वादों से इसे हटाते हैं पर इसके फल दो ही होते हैं। या तो अनुयायी इन्हीं विचारकों की पूजा करने लगते हैं या इन सिद्धान्तों को राष्ट्रवाद के रास्ते किसी राजनीति के दलनायकों पर केन्द्रित कर दिया जाता है। शिवगीता ने इस रहस्य को पूरी तरह समझा है एवं श्रीभगवद्गीता की तरह इसमें शिवभक्ति को प्रधानता देकर इस कमी को पूरा किया गया है। व्यक्तिपूजा बुरी नहीं पर आवश्यक है कि सच्चे आदर्श पुरुष के सच्चे आचरणों के माध्यम से इसे ऐसा बनाया जा सके कि यह आत्मा के उस निस्तब्ध मौन का स्पर्श कर सके। बिना आदर्श व्यक्ति के वस्तुतः मानव का संश्लिष्टनिर्माण होना ही अर्थशून्य हो जाता है। वस्तुतः अर्हा (Value) की प्रतीति ही अर्हावान् पुरुष के विषय में दृढ़तर प्रमाण है। अन्यथा अर्हा की व्यक्ति को पूर्ण करने की क्षमता ही सन्दिग्ध हो पड़ती है। आदर्श पुरुष की सत्ता अभक्त के अविश्वास से अखण्ड्य ही रहेगी। रातदिन विश्व में आकर्षण (Gravity) का अनुभव करते हुये भी यदि हमने उसे नहीं समझा तो क्या वह शक्ति ही

खण्डित मान ली जाय? न्यूटन का हृदय ही उसे पकड़ सका। सेंट आगस्टाइन कहते हैं कि मैं अपने आप से दूर था, तुम मुझ से दूर न थे (Thou hast always been with me, but I have not been always with myself.)।

ब्रह्म की तरह ही ब्रह्मनिष्ठ या अवतारी पुरुष तो सदा हमारे समीपतम है, हममें जब तक श्रद्धारूपी दिव्यचक्षु नहीं होगा हम उसे पहचान न पावेंगे। न कृष्ण को अर्जुन ने पहचाना और न शिखिध्वज नें चूडाला को। ऐसे व्यक्ति को न पहचानने पर भी यदि उसकी स्वीकृति हृदय में हो तो काम चल सकता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट कहा कि मुझे देख, मुझे जान, मुझे अर्पण कर आदि। पर हमें तो श्रीराम की तरह तपस्या करके ही महादेव को प्राप्त करना होगा। उस साकार दिव्यविग्रह को अपना सर्वस्व प्रेम देकर कृतार्थ होना होगा। जिसे श्रीकृष्ण की तरह लीलाविग्रहगुरु की प्राप्ति हो जाय उसके लिये तो हमारा हृदय श्रद्धानत ही रहेगा। परन्तु शिवगीता का साकार दिव्य-विग्रह विषयक प्रेम मानवमात्र के काम आसकता है। यही शिवगीता की भक्ति विषयक देन है। जब तक देवाधिदेव महादेव के प्रति हृदय प्रेम से उछल न पड़ेगा कभी भी जीव में पूर्णता न आ सकेगी।

इस प्रकार संक्षेप में हमने देखा कि शिवगीता अध्यात्मपथ के पथिक के लिये एक उत्तम और नित्यविचार व पाठ का ग्रन्थ है। विशेषतः औपनिषद् वेदान्त के पथिक के लिये तो यह आवश्यक ही है। इसका हिन्दी अनुवाद करके हमारे प्रिय स्वामी ईश्वरा-नन्दजी ने एक कमी को दूर किया है। अब संस्कृत में अप्रविष्ट भी इसका लाभ उठा सकेंगे। कई स्थलों पर स्वामीजी ने अपनी विशेष टिप्पणियों से विषय को रुचिकर व बोधगम्य बनाने का प्रयास करके प्रारंभिक साधकों के लिये दुरूहता को हटाया है। चतुर्विध मुक्ति का विचार, पंचविध उपासना का प्रकार आदि स्थल

इस बारे में द्रष्टव्य हैं। आशा है साधक इस ग्रंथ का अधिकाधिक उपयोग कर लाभान्वित होंगे।

अन्त में भगवान् अर्धनारीश्वर से प्रार्थना है कि वे भारत में पुनः शैवजागरण करें जिससे भारत पुनः विश्वगुरु बन सके।

वैशाखमासशिवरात्रि २०२७
श्रीशंकरमठ
अर्बुदाचल

भगवच्छंकरानुरागी
महेशानन्दगिरिः

विषयानुक्रम

अध्याय ५

शिव-रथ वर्णन। रामका उसमें आरूढ़ होना। शिवसे महापाशुपत-अस्त्र एवं अन्य देवोंसे अन्यान्य दिव्य अस्त्रोंकी प्राप्ति। रामका समुद्रोल्लंघन विषयक प्रश्न एवं शिवका उत्तर। धर्म-अधर्मका रहस्य। धर्मयुद्धके नियम। महेश्वरका जगत-आधार रूपसे एवं जीवका उनके निमित्त मात्रसे उल्लेख।

अध्याय ६

साकार परमेश्वरका सर्वरूप होनेमें रामकी शंका। शिव द्वारा अपनी विभूतियोंका वर्णन। सर्वव्यापी, सर्ववेद, सर्वदेव, प्रणव, अनन्त, तारक, ईश्वर, रुद्र, आदि नामोंका विश्लेषण। जगत व जीवके साथ ईश्वर की एकता। एकता प्राप्तिका साधन व फल। कैवल्योपनिषद्के अनुसार सर्वरूप वर्णन।

अध्याय ७

सर्वात्मविभूतिको वास्तविक स्वीकारने में रामकी असमर्थता। शिवके द्वारा नाना युक्तियोंसे सर्वात्मभाव समर्थन। रामके भ्रम निवारणार्थ उनको अपना सर्वात्मरूप दिखानेके लिए शिवका बाध्य होना। दिव्यचक्षु प्राप्त कर रामका विराट दर्शन करना। रामके मनमें प्रथमतः भय, पश्चात् उपनिषद्गम्य बोधका उदय। रामके द्वारा विराट-वर्णन। दृश्यत्व भ्रमका निश्चय। कार्य-कारण, आधार-आधेय, उपास्य-उपासक आदि सम्बन्धोंकी भ्रमरूपता। सच्चिदानन्द शिवकी स्तुति। विराटरूप उपसंहारके बाद इष्ट-दर्शन।

अध्याय ८

शिवसे प्रेरित हो राम द्वारा शरीरोत्पत्ति विषयक प्रश्न। पाँच महाभूतोंसे चार प्रकारकी शरीरोत्पत्तिका वर्णन। पिण्डोत्पत्ति क्रम। गर्भवास, शैशव, यौवन, वृद्धावस्था व मृत्यु समयके दुःख। संसार एक विश्रामवृक्ष।

अनिवार्यता। चार प्रकारकी उपासना। उपासनाके अंग :—स्थान, आसन, भस्मधारण आदि। ध्यानाभ्यासका वर्णन। श्रुतिके अनुसार ध्येयस्वरूप वर्णन। शम, दम आदि सहित ध्यान योगमें निरत साधककी ज्ञानप्राप्ति व मुक्ति।

अध्याय १३

कैवल्यमुक्ति निरूपण — १३६–१४४

मुक्तिके स्वरूपलक्षण विषयक रामकी जिज्ञासा। शिवद्वारा पाँच प्रकारकी मुक्तिका उल्लेख एवं इनके तत्तत् साधनोंका प्रतिपादन। शुद्धब्रह्मके परिज्ञानसे ही कैवल्य मुक्ति। रामके पूछने पर इस ज्ञानकी प्राप्तिके उपायका वर्णन साधन चतुष्टय। गुरु-उपसत्ति विधि। श्रवण, मनन, निदिध्यासनके लक्षण। प्रारब्धको छोड़कर अन्य कर्मोंका नाश। हृदयग्रन्थिमोचन। जीवन्मुक्ति लक्षण। इस अध्यायके महत्त्वको प्रकट करते हुए इसे नित्य पढ़नेका विशेष आदेश।

अध्याय १४

पंचकोश प्रतिपादन — १४५–१५४

रामके द्वारा शुद्ध ज्ञानकी अत्यधिक दुर्लभताका प्रतिपादन व सरल उपायकी याचना। शिवके द्वारा सगुणोपासनाका वर्णन। स्थूलारुन्धतिकान्याय। पंचकोशोंका क्रमशः विवेक। कठोपनिषद्की प्रसिद्ध रथकल्पना। ज्ञान साधनाके सुलभ होने पर भी शाम्भवी माया द्वारा इसमें जनप्रवृत्ति निरुद्ध। भक्तिपूर्ण शरणागतिसे ही मायाका निवारण।

अध्याय १५

भक्तियोग — १५५–१६२

भक्तिके लक्षण व उपायोंके विषयमें रामकी जिज्ञासा। शिवका अपने प्रिय भक्तोंके विभिन्न रूपोंको बतलाना। विशेष उपाय रूपसे प्रणवोपासनाका प्रतिपादन। शिवपूजन व शिवध्यानके विशेष नियम।



शुद्धिपत्र

पृष्ठ १ —

पंक्ति ६ में 'सिध्युपकारिणीम्' को 'सिद्ध्युकारिणीम्' पढें।

पृष्ठ १८८ —

पंक्ति ६ में ॐ अग्निरिति भस्म' के बाद 'वायुरिति भस्म जलमिति भस्म' — इतना अधिक पाठ समझलें।

पंक्ति १७ में 'ॐ आप' की जगह 'ॐ आपः' पढें।

पृष्ठ १९४ —

पंक्ति ३ में '"एतान्विभूतिं' की जगह '"एतां विभूतिं' पढें।

पृष्ठ २०१ —

पंक्ति १७ में 'पश्चात् कार्य' जगह 'पश्चात् कार्यं' पढें।

पृष्ठ २०६ —

पंक्ति २ में 'पना' की जगह 'पने' पढें।

पंक्ति ५ में 'मात्रा' की जगह 'माया' पढें।

अनुवादककृत मंगलाचरण

मधुरा यस्यगीर्वृत्तं मधुरं मधुराकृतिः ।
तं प्रत्यक्षं शिवं वन्दे श्रीनृसिंहगिरिं गुरुम् ॥१॥

उच्छलज्जगदानन्द – चिदम्बर – विलासिनः ।
उदञ्चित – पदाम्भोजं वृणोम्येकान्त – भक्तितः ॥२॥

निगूढशिवगीतार्थ – बोध – सिध्युपकारिणीम् ।
ईशप्रासादिकां लोकभाषया रचयाम्यहम् ॥३॥

मधुर आकृति, मधुर वाणी व मधुर व्यवहार वाले, साक्षात् शिवरूप, गुरुवर श्री नृसिंहगिरिजी की, मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

जिस घनीभूत आनन्द का छलकना ही जगत है, जो चिदम्बर क्षेत्र में इष्ट बन कर नृत्य कर रहे हैं, (चिदाकाश में जो अन्तर्यामी होकर विलास करते हैं) उन नटराज के, उन्नत स्वप्रकाशित चरण कमल का, मैं एकान्त भक्ति द्वारा वरण करता हूँ ॥२॥

मैं शीव गीता के अत्यन्त गूढ़ अर्थ की बोध-सिद्धि का उपकार करनेवाली "ईशप्रासादिका" नामक टीका की रचना लोक भाषा में कर रहा हूँ ॥३॥

श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः

॥ अथ श्रीशिवगीता प्रारभ्यते ॥

विनियोगः

ॐ अस्य श्रीशिवगीता–माला–मन्त्रस्य श्री अगस्त्य ऋषिः, जगती छन्दः, श्री सदाशिवः परमात्मा देवता, प्रणवो बीजं, सर्वव्यापक इति शक्तिः, ह्रीं कीलकं, ब्रह्मात्मसाक्षात्कारार्थे जपे विनियोगः ।

करन्यासः

ॐ ह्रां अंगुष्ठाभ्याँ नमः, ॐ ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः, ॐ ह्रूं मध्यमाभ्यां नमः, ॐ ह्रैं अनामिकाभ्यां नमः, ॐ ह्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, ॐ ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

हृदयादिन्यासः

ॐ ह्रां हृदयाय नमः, ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा, ॐ ह्रूं शिखायै वषट्, ॐ ह्रैं कवचाय हुं, ॐ ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ ह्रः अस्त्राय फट् ।

ध्यानम्

ॐ गुणातीतोपीशस्त्रिगुणसचिवस्त्र्यक्षरमय –
स्त्रिमूर्तिर्यः सर्गस्थितिविलयकर्माणि तनुते ।
कृपापारावारः परमगतिरेकः पुनरयं
नमस्तस्मै कस्मै चिदमितमहिम्ने पुरभिदे ॥ १ ॥

जो परमेश्वर सभी गुणों से अतीत होते हुए भी त्रिगुणात्मिकाशक्ति की प्रेरणा (या मंत्रणा) से ओंकारमय है, 'अ' कार, 'उ' कार, 'म' कार स्वरूप से त्रिमूर्त्याकार होकर जगत की उत्पत्ति–स्थिति–विलय आदि दिव्यकर्मों का लीला–विस्तार करता है, वही पुनः असीम कृपा सागर के रूपमें मुक्ति–कामी साधकों के लिये

एकमात्र उत्तम शरण सिद्ध होता है — उस अचिन्त्य-अवाच्य-अपरिमित-महिमा-सम्पन्न त्रिपुरारी को नमस्कार है ॥१॥

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सर्वात्मकं सात्त्विकमेकमक्षरम् ।
अलेपनं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं प्रणवं यदुक्तमोम् ॥ २ ॥

जो द्रष्टा स्वरूप है, आकाश की भाँति अखण्ड, निर्मल व सूक्ष्म है, सर्वश्रेष्ठ है, सर्वरूप है, सत्त्वगुण के द्वारा अनुभूत है, एकरस, अविनाशी, लेप रहित, सर्वव्यापी एवं अद्वैत स्वरूप है— वही मैं हूँ और वही वेदशास्त्रों में ओंकार या प्रणव नाम से कहा गया है ॥२॥

रामं कुंभजचोदितं रसखभागे शंकरोश्रावयद्
बुद्ध्वा तां सकलेप्सितार्थभरितां व्यासोलिखत्पाद्मके ।
शैवाद्वैतवितारिणीं कलिमल–प्रध्वंसिनीं वत्सलां
मन्वे तामनुशीलनेन शिवगीतां शंकरस्य प्रियाम् ॥३॥

अगस्त्यसे प्रेरित हो राम ने शिव से सोलह अध्यायों में जिसका श्रवण किया, जो कि सर्वकामप्रद अर्थों से भरपूर थी, उसी शिवगीता को वेदव्यासने पद्म पुराण में लिखा। शिवाद्वैत वितरण करने वाली, कलि दोष को नष्ट करनेवाली एवं वात्सल्यभरी शंकरप्रिया शिवगीता का मैं अनुशीलन पूर्वक सेवन करता हूँ ॥३॥

प्रथमोऽध्यायः

सूत उवाच ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि शुद्धं कैवल्यमुक्तिदम् ।
अनुग्रहान्महेशस्य भवदुःखस्य भेषजम् ।। १ ।।
न कर्मणामनुष्ठानैर्न दानैस्तपसापि वा ।
कैवल्यं लभते मर्त्यः किंतु ज्ञानेन केवलम् ।। २ ।।
रामाय दण्डकारण्ये पार्वतीपतिना पुरा ।
या प्रोक्ता शिवगीताख्या गुह्याद्गुह्यतमापि सा ।। ३ ।।

अध्याय : १

शिव-भक्ति की श्रेष्ठता का निरूपण

पुराणों के प्रवक्ता रोमहर्षण नामक सूत ऋषि नैमिशारण्य में एकत्रित हुए ज्ञान–पिपासु ऋषि–गणों को सम्बोधित करते हुए, श्री शिवगीता का उपदेश प्रारंभ करने की इच्छा से, कहने लगे —

अब मैं महेश के अनुग्रह से प्रेरित होकर शुद्ध वेदान्त-ज्ञान का उपदेश करूँगा जो कि भव-रोग की एक मात्र सिद्ध औषधि है तथा कैवल्य–मुक्ति प्रदान करने वाला है । आप श्रोता गण इस ज्ञान के उत्तम अधिकारी हैं; अधिकारी में उपदेश के बिना ज्ञानोदय असम्भव है ।।१।।

यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठान से, गो–भूमि–स्वर्णादि के दान से, चान्द्रायण व्रत या पञ्चाग्नि–तप जैसे कठिन साधनों से भी मनुष्य इस कैवल्य मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता; ज्ञान मात्र से ही यह मुक्ति सहज प्राप्य है ।।२।।

यह जो शिवगीता नाम से प्रसिद्ध ज्ञानोपदेश मैं देने जा रहा हूँ, समस्त गुह्य विद्याओं में भी गुह्यतम है । प्राचीन काल

यस्याः श्रवणमात्रेण नृणां मुक्तिर्ध्रुवं भवेत् ।
पुरा सनत्कुमाराय स्कन्देनाभिहिता हि सा ॥ ४ ॥
सनत्कुमारः प्रोवाच व्यासाय मुनिसत्तमाः ।
मह्यं कृपातिरेकेण प्रददौ बादरायणः ॥ ५ ॥
उक्तं च तेन कस्मैचिन्न दातव्यमिदं त्वया ।
सूतपुत्रान्यथा देवाः क्षुभ्यन्ति च शपन्ति च ॥ ६ ॥
अथ पृष्टो मया विप्रा भगवान्बादरायणः ।
भगवन्देवताः सर्वाः किं क्षुभ्यन्ति शपन्ति च ।
तासामत्रास्ति का हानिर्यया कुप्यन्ति देवताः ॥ ७ ॥
पाराशर्योऽथ मामाह यत्पृष्टं शृणु वत्स तत् ।
नित्याग्निहोत्रिणो विप्राः संति ये गृहमेधिनः ॥ ८ ॥

में इस ज्ञान का उपदेश स्वयं पार्वती-पति ने दण्डकारण्य में शोकाकुल श्रीराम को दिया था, जिसके श्रवण मात्र से सभी मानव निश्चित ही मुक्त हो जायेंगे ।

हे मुनि-श्रेष्ठ! पहले शिव–कुमार स्कन्द स्वामी ने सनत्कुमार के प्रति इस शिवगीता को प्रकट किया था, फिर सनत्कुमार ने इसे व्यासजी को सुनाया । भगवान बादरायण व्यासजी ने अत्यन्त कृपा-पूर्वक मुझे दीक्षित किया और उन्होंने मुझसे यह भी कह दिया था कि हे सूत–पुत्र, इस शिव–गीता को किसी भी अनधिकारी को देना उचित नहीं है, अन्यथा देवता क्रुद्ध होंगे और वक्ता तथा श्रोता दोनों को शाप देंगे ॥३–६॥

इस बात को सुनकर मैंने भगवान बादरायण से पूछा, भगवन! देवता इस प्रकार क्रुद्ध होकर शाप क्यों देते हैं? इस में उनकी क्या हानि है जिससे वे कुपित हो जाते हैं? ॥७॥

पराशर पुत्र व्यासजी ने मुझसे कहा, वत्स! तुमने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर सावधानी से सुनो । जो विप्र अग्निहोत्रादि नित्य कर्म करने वाले गृहस्थी हैं वे ही देवताओं की इच्छा को

त एव सर्वफलदाः सुराणां कामधेनवः ।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च यद्यदिष्टं सुपर्वणाम् ।। ९ ।।
अग्नौ हुतेन हविषा तत्सर्वं लभ्यते दिवि ।
नान्यदस्ति सुरेशानामिष्टसिद्धिप्रदं दिवि ।। १० ।।
दोग्ध्री धेनुर्यथा नीता दुःखदा गृहमेधिनाम् ।
तथैव ज्ञानवान्विप्रो देवानां दुःखदो भवेत् ।। ११ ।।
त्रिदशास्तेन विघ्नन्ति प्रविष्टा विषयं नृणाम् ।
ततो न जायते भक्तिः शिवे कस्यापि देहिनः ।
तस्मादविदुषां नैव जायते शूलपाणिनः ।। १२ ।।
यथाकथंचिज्जातापि मध्ये विच्छिद्यते नृणाम् ।
जातं वापि शिवज्ञानं न विश्वासं भजत्यलम् ।। १३ ।।

पूर्ण करने वाले कामधेनु हैं । देवता उन्हीं के द्वारा अग्नि में हवि रूप से तत्-तत् देवता के निमित्त हवन किये गये पुरोडाश, चरु, आज्य आदि क्रमशः भक्ष्य, भोज्य और पेय अन्न को प्राप्त करते हैं। देवलोक में इसके सिवा देवताओं के इष्ट-भोग-सिद्धि प्राप्त करने का दूसरा साधन नहीं है ।।८-१०।।

जैसे किसी गृहस्थी की दूधवाली गाय चोरों द्वारा चुरा लिये जाने पर अपने स्वामी के लिए दुःखदायी सिद्ध होती है, उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा विप्र की कर्म-निष्ठा नष्ट हो जाने पर वह देवताओं के लिये दुःखद हो जाता है ।।११।।

अतः देवता पुत्र, कलत्र, पशु और वित्तादि विषयों के रूपमें प्रविष्ट होकर प्रलोभन द्वारा मनुष्यों के ज्ञान-साधन में विघ्न डालते हैं ।

अत : देहासक्त मनुष्यों में से किसी में भी शिवभक्ति उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन है। जो अविद्वान है एवं पुराण आदि शास्त्रके श्रवण में प्रवृत्त ही नहीं होता, उन के अन्दर भगवान शूलपाणि के प्रति भावना हो ही कैसे सकती है ।।१२।।

ऋषय ऊचुः

यद्येवं देवता विघ्नमाचरन्ति तनूभृताम् ।
पौरुषं तत्र कस्यास्ति येन मुक्तिर्भविष्यति ॥ १४ ॥
सत्यं सूतात्मज ब्रूहि तत्रोपायोऽस्ति वा न वा ।

सूत उवाच

कोटिजन्मार्जितैः पुण्यैः शिवे भक्तिः प्रजायते ॥ १५ ॥
इष्टापूर्तादिकर्माणि तेनाचरति मानवः ।
शिवार्पणधिया कामान्परित्यज्य यथाविधिः ॥ १६ ॥
अनुग्रहात्तेन शंभोर्जायते सुदृढो नरः ।
ततो भीताः पलायन्ते विघ्नं हित्वासुरेश्वराः ॥ १७ ॥

यदि किसी में भक्ति उत्पन्न भी होगई तो प्राय : वह साधना काल में ही भंग हो जाती है । यदि भाग्यवश भक्ति–भावना अटूट रह भी गई, फिर भी साधक के अन्दर गुरु, शास्त्र और ईश्वर में पर्याप्त विश्वास न होने से शिव–ज्ञान का अखण्ड रूप नहीं हो पाता, किञ्चित आभास मात्र ही मिलता है ॥१३॥

ऋषियोंने कहा—यदि देहधारी साधारण मानव के जीवन में देवता इस प्रकार विघ्न डालते हैं तो इस में मनुष्य की क्या सामर्थ्य है कि वह मुक्ति प्राप्त कर सके? ॥१४॥ हे सूत-पुत्र! आप सच बतावें कि इस विषय में कोई उपाय भी है या नहीं।

सूतने कहा— करोड़ों जन्मों में सञ्चित पुण्यों के प्रभाव से शिव के प्रति भक्ति–भाव अंकुरित होता है ॥१५॥ उसके प्रभाव से वह मानव यज्ञादि इष्ट कर्म और कूप–निर्माणादि पूर्त कर्म एवं अन्य शास्त्रोक्त पुण्य कर्मों का आचरण करता है । विधिवत शास्त्रीय-आचरण से चित्त में शुद्धि आने पर कर्म-फल-वासना छूटती जाती है और केवल शिवापर्ण बुद्धिसे ही कर्म किये जाते हैं । इस स्थिति में शंभु के अनुग्रह का अधिकतर और स्पष्टतर अनुभव होने लगता

जायते तेन शुश्रूषा चरिते चन्द्रमौलिनः ।
श्रृण्वतो जायते ज्ञानं ज्ञानादेव विमुच्यते ॥ १८ ॥
बहुनात्र किमुक्तेन यस्य भक्तिः शिवे दृढा ।
महापापोपपापौघकोटिग्रस्तोऽपि मुच्यते ॥ १९ ॥
अनादरेण शाठ्येन परिहासेन मायया ।
शिवभक्तिरतश्चेत्स्यादन्त्यजोऽपि विमुच्यते ॥ २० ॥
एवं भक्तिश्च सर्वेषां सर्वदा सर्वतोमुखी ।
तस्यां तु विद्यमानायां यस्तु मर्त्यो न मुच्यते ॥ २१ ॥

है, जिससे मनुष्य साधना में सुदृढ हो जाता है । साधक की इस जागृत–शक्ति को देखकर देवता भयभीत होकर विघ्न के आचरण छोड़कर भाग खड़े होते हैं ॥१६–१७॥ निर्विघ्न हृदय में भगवान चन्द्रमौलि के दिव्य चरित्र-श्रवण की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है । सत्संग के द्वारा श्रवण में प्रवृत्त होने पर संशय–विपर्यय आदि दोष रहित शिवज्ञान उत्पन्न होता है । उस दृढ़ ज्ञानसे वह इसी शरीर में मुक्त हो जाता है ॥१८॥ अधिक क्या कहें, जिस में दृढ़ शिव–भक्ति है वह करोड़ों महापापों और उपपापों के समूह से घिरा हुआ भी जीवन–मुक्ति प्राप्त कर सकता है ॥१९॥

बिना आदर, धोखे से, हँसी-खेल में या कुटिलता पूर्वक भी यदि कोई शिवभक्ति में रत हो जाय तो वह व्यक्ति, भले ही चाण्डाल हो, मुक्त हो ही जाता है ॥२०॥ इस प्रकार शिव–भक्ति सबके लिये, सब काल में, सब प्रकार से सुलभ है । ऐसी भक्ति साधना के विद्यमान होने पर भी जो मनुष्य उसे अपनाकर संसार–बंधन से मुक्त नहीं होता, उससे बढ़कर मूढ़बुद्धि और कौन हो सकता है ?

यदि परमेश्वर के प्रति नियम से द्रोह करनेवाले को भी वे उस द्रोहपूर्ण सेवन से ही प्रसन्न होकर वाञ्छित फल प्रदान कर देते हैं तो भक्तिपूर्ण आराधना की श्रेष्ठता का तो कहना ही क्या ?

संसारबन्धनात्तस्मादन्यः को वास्ति मूढधीः ।
नियमाद्यस्तु कुर्वीत भक्तिं वा द्रोहमेव वा ।। २२ ।।

तस्यापि चेत्प्रसन्नोऽसौ फलं यच्छति वाञ्छितम् ।
ऋद्धं किंचित्समादाय क्षुल्लकं जलमेव वा ।। २३ ।।

यो दत्ते नियमेनासौ तस्मै दत्ते जगत्त्रयम् ।
तत्राप्यशक्तो नियमान्नमस्कारं प्रदक्षिणाम् ।। २४ ।।

यः करोति महेशस्य तस्मै तुष्टो भवेच्छिवः ।
प्रदक्षिणास्वशक्तोऽपि यः स्वान्ते चिन्तयेच्छिवम् ।।२५।।

गच्छन्समुपविष्टो वा तस्याभीष्टं प्रयच्छति ।
चन्दनं बिल्वकाष्ठस्य पुष्पाणि वनजान्यपि ।। २६ ।।

फलानि तादृशान्येव यस्य प्रीतिकराणि वै ।
दुष्करं तस्य सेवायां किमस्ति भुवनत्रये ।। २७ ।।

वन्येषु यादृशी प्रीतिर्वर्तते परमेशितुः ।
उत्तमेष्वपि नास्त्येव तादृशी ग्रामजेष्वपि ।। २८ ।।

थोड़ा सा जल अंजलि में लेकर शिव–लिंग पर नियमित रूप से अर्पण करनेवाले को वह शिव त्रिलोकी का ऐश्वर्य प्रदान कर देता है । जलांजलि देने में भी असमर्थ साधक यदि नियम से महेश को नमस्कार या उनकी प्रदक्षिणा ही कर ले तो उसी से भगवान शिव सन्तुष्ट हो जाते हैं । प्रदक्षिणा करने में भी असमर्थ व्यक्ति कहीं भी चलते हुए या बैठे-बैठे ही अपने अंतःकरण में नियम से शिव का चिन्तन करता है, तो उसको परमेश्वर अभीष्ट फल प्रदान करते हैं । चन्दन, बिल्व–पत्र, जंगली पुष्प और जंगल के फलादि ही जिस परमेश्वर को प्रिय हैं, उसकी सेवा में तीनों भुवनों में कहीं भी, किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती ।।२१–२७।।

तं त्यक्त्वा तादृशं देवं यः सेवेतान्यदेवताम् ।
स हि भागीरथीं त्यक्त्वा काङ्क्षते मृगतृष्णिकाम् ॥२९॥
किंतु यस्यास्ति दुरितं कोटिजन्मसु संचितम् ।
तस्य प्रकाशते नायमर्थो मोहान्धचेतसः ॥ ३० ॥
न कालनियमो यत्र न देशस्य स्थलस्य च ।
यत्रास्य रमते चित्तं तत्र ध्यानेन केवलम् ॥ ३१ ॥
स्वात्मत्वेन शिवस्यासौ शिवसायुज्यमाप्नुयात् ।
अतिस्वल्पतरायुः श्रीर्भूतेशांशाधिपोऽपि यः ॥ ३२ ॥
स तु राजाहमस्मीति वादिनं हन्ति सान्वयम् ।
कर्तापि सर्वलोकानामक्षय्यैश्वर्यवानपि ॥ ३३ ॥

साधारणतया सुलभ जंगल के पत्र, पुष्पादि के उपचारों से परमेश्वर को जितनी प्रीति है उतनी ग्राम में, बगीचे आदि से प्राप्त उत्तम पदार्थों के सेवन से नहीं ॥२८॥

इस प्रकार के सरल और उदार महादेव को छोड़कर जो अन्य देवता की सेवा में प्रवृत्त होता है, वह मनुष्य गंगाजी को त्याग कर मृगतृष्णा के मिथ्या जल की आकांक्षा में भटकनेवाला है ॥२९॥

परन्तु जिसके हृदय में करोड़ों जन्मों से सञ्चित पापों का प्रभाव उदय होता है उस मोहान्ध चित्तवाले को इस उपदेश की सत्यता का भान नहीं होता ॥३०॥

जिस योग की भूमि में देश, काल और परिस्थिति का नियम नहीं, जहाँ सुखानुभूति से आकृष्ट हुआ चित्त रम जाता है, वहाँ अपने आत्म-स्वरूप शिव के ध्यान करने मात्र से साधक शिव–सायुज्य को प्राप्त कर लेता है ।

लोक में देखा जाता है कि सम्राट के अधीनस्थ क्षुद्र राजा, राज्यांश, अल्पतर आयु और अल्पतर वैभव का उपभोग करता हुआ भी, अपने राज्य के किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं को राजा घोषित

शिवः शिवोऽहमस्मीति वादिनं यं च कंचन ।
आत्मना सह तादात्म्यभागिनं कुरुते भृशम् ।। ३४ ।।

धर्मार्थकाममोक्षाणां पारं यास्यन्ति येन वै ।
मुनयस्तत्प्रवक्ष्यामि व्रतं पाशुपताभिधम् ।। ३५ ।।

कृत्वा तु विरजां दीक्षां भूतिरुद्राक्षधारिणः ।
जपन्तो वेदसाराख्यं शिवनामसहस्रकम् ।। ३६ ।।

संत्यज्य तेन मर्त्यत्वं शैवीं तनुमवाप्स्यथ ।
ततः प्रसन्नो भगवाञ्छंकरो लोकशंकरः ।
भवतां दृश्यतामेत्य कैवल्यं वः प्रदास्यति ।। ३७ ।।

करने पर, कुपित हो उसे सपरिवार मार डालता है। परन्तु अध्यात्म जीवन में यह आश्चर्य है कि भगवान शिव सभी लोकों के कर्ता और अक्षय ऐश्वर्यवान होने पर भी संसार में "शिवोहं" भाव का अभ्यास करनेवाले किसीको भी तुरन्त निज तादात्म्य का भागी बना देते हैं — सायुज्य मुक्ति प्रदान कर देते हैं ।।३१–३४।।

(इस प्रकार के शिवध्यान के लिये चित्त की अत्यन्त शुद्धि की आवश्यकता है। उस शुद्धि के एक विशेष उपाय के रूप में) मैं अब उस पाशु–पत नामक व्रत का वर्णन करूँगा जिसके द्वारा मुनिगण धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं ।।३५।।

हे ऋषिगण! विरजा दीक्षा में दीक्षित होकर भस्म और रुद्राक्ष धारण करके वेदसार नामक शिवसहस्रनाम का जप करते हुए इस व्रत पालन के फलस्वरूप आपके शरीर का मर्त्यत्व नष्ट हो जायगा एवं सायुज्य के योग्य दिव्यत्व की प्राप्ति होगी। तत्पश्चात् समस्त लोकों के कल्याणकारी भगवान शंकर प्रसन्न होकर आपको दर्शन देंगे, अपने उपदेश द्वारा कैवल्य मुक्ति प्रदान करेंगे ।।३६–३७।।

रामाय दण्डकारण्ये यत्प्रादात्कुम्भसंभवः ।
तत्सर्वं वः प्रवक्ष्यामि श्रृणुध्वं भक्तियोगिनः ।। ३८ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे शिवभक्त्युत्कर्षनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

दण्डक वन में कुंभज अगस्त्य ऋषिने राम को यही उपाय बताया था। भक्तियोग में निरत आपको मैं वह सारी बात विस्तार से बताऊँगा ।।३८।।

इस प्रकार श्री पद्मपुराण के उपरिभाग में श्री शिवराघवसंवाद-रूप ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में शिवभक्ति–उत्कर्ष–निरूपण नामक पहला अध्याय संपूर्ण हुआ ।

द्वितीयोऽध्यायः

ऋषय ऊचुः ।

किमर्थमागतोऽगस्त्यो रामचन्द्रस्य सन्निधिम् ।
कथं वा विरजां दीक्षां कारयामास राघवम् ।
ततः किमाप्तवान् रामः फलं तद्वक्तुमर्हसि ।। १ ।।

सुत उवाच ।

रावणेन यदा सीताऽपहृता जनकात्मजा ।
तदा वियोगदुःखेन विलपन्नास राघवः ।। २ ।।

निर्निद्रो निरहंकारो निराहारो दिवानिशम् ।
मोक्तुमैच्छत्ततः प्राणान् सानुजो रघुनन्दनः ।। ३ ।।

अध्याय २

वैराग्योपदेश

ऋषियोंने पूछा — रामचन्द्र के पास अगस्त्यजी किसलिये आये थे उन्होंने राघवेन्द्र को विरजा-दीक्षा में किस प्रकार दीक्षित किया था ? उस दीक्षा से श्रीराम को क्या फल मिला ? हे सूतजी ! यह सब आप हमें बताइये ।। १ ।।

सूतने कहा — जनकनन्दिनी सीता को, रावण द्वारा हर लिये जाने पर, भगवान राघवेन्द्र वियोग दुःखसे पीड़ित हो अन्न-जल और निद्रा का भी त्यागकर रात-दिन विलाप करते रहे ।। २ ।। अपने शरीर से भी उनका अहंभाव हट गया था । अतः वे अपने भाई लक्ष्मण के साथ प्राणत्याग करना चाहते थे ।। ३ ।।

लोपामुद्रापतिर्ज्ञात्वा तस्य सन्निधिमागमत् ।
अथ तं बोधयामास संसारासारतां मुनिः ।। ४ ।।

अगस्त्य उवाच ।

किं विषीदसि राजेन्द्र कान्ता कस्य विचार्यताम् ।
जडः किं नु विजानाति देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।।५।।
निर्लेपः परिपूर्णश्च सच्चिदानन्दविग्रहः ।
आत्मा न जायते नैव म्रियते न च दुःखभाक् ।। ६ ।।
सूर्योऽसौ सर्वलोकस्य चक्षुष्ट्वेन व्यवस्थितः ।
तथापि चाक्षुषैर्दोषैर्न कदा चिद्विलिप्यते ।। ७ ।।

इस बात को जानकर लोपामुद्रा के पति अगस्त्य मुनि उनके पास पहुँचे और संसार की असारता का उन्हें बोध कराने लगे ।।४।।

अगस्त्यजीने कहा -- हे राजेन्द्र! आप विषाद क्यों करते हो? जिस कान्ता के वियोग से तुम पीड़ित हो वह किसकी है और क्या है? यह विचार करो। (और यह भो विचारो कि उसका वियोग दुःख किसको हो रहा है -- तूम्हारो देह को या आत्मा को?)

पञ्च महाभूतों से निर्मित होने से यह देह तो जड़ है। यह सुख-दुःख को कैसे जान सकता है? इसके अन्दर जो आत्मा है वह सच्चिदानन्द स्वरूप, परिपूर्ण और निर्लिप्त है। वास्तव में इसका न जन्म होता है और न मृत्यु ही। अतः स्वरूप से या निमित्त से किसी भी प्रकार से यह दुःख की भागी नहीं हो सकती।। ५--६ ।। समस्त भूतों में व्याप्त अन्तरात्मा समस्त दृश्य जगत से इस प्रकार निर्लिप्त है जैसे सर्वलोक का चक्षुस्थानीय सूर्य, आँख के अधिष्ठाता देव होकर, सभी पदार्थों को प्रकाशित करते हुए भी चक्षुगत दोषों से युक्त नहीं होता। इसके विपरीत सुन्दर व प्रिय दिखाई देने पर भी यह शरीर वास्तव में मल-पिण्ड और जड़ रूप है। अतः मरण समय में जीव जब इस शरीर को छोड़कर चला जाता है तब यह

सर्वभूतान्तरात्मापि तद्वद्दृश्यैर्न लिप्यते ।
देहोऽपि मलपिण्डोऽयं मुक्तजीवो जडात्मकः ॥ ८ ॥
दह्यते वह्निना काष्ठैः शिवाद्यैर्भक्ष्यतेऽपि वा ।
तथापि नैव जानाति विरहे तस्य का व्यथा ॥ ९ ॥
सुवर्णगौरी दूर्वाया दलवच्छ्यामलापि वा ।
पीनोत्तुङ्गस्तनाभोगभुग्नसूक्ष्मविलग्निका ॥ १० ॥
बृहन्नितम्बजघना रक्तपादसरोरुहा ।
राकाचन्द्रमुखी बिम्बप्रतिबिम्बरदच्छदा ॥ ११ ॥
नीलेन्दीवरनीकाशनयनद्वयशोभिता ।
मत्तकोकिलसँल्लापा मत्तद्विरदगामिनी ॥ १२ ॥
कटाक्षैरनुगृह्णाति मां पञ्चेषुशरोत्तमैः ।
इति यां मन्यते मूर्खः स तु पञ्चेषुशासितः ।
तस्या विवेकं वक्ष्यामि शृणुष्वावहितो नृप ॥१३॥

स्थूल शरीर जलाने योग्य या शृगालादि का भोजन हो जाता है। उस समय में जलन या भक्षण का भी दुःख, इसे नहीं होता तो विरह से क्या दुःख होगा ? ॥ ७-९ ॥

"यह सुन्दर गोरे रंगवाली या दूर्वादल जैसी श्यामला है, इस के पीन उत्तुङ्ग स्तनों के विस्तार से सूक्ष्म कटि प्रदेश टूटता सा दिखाई दे रहा है । इस के नितम्ब व जघनस्थल विशाल हैं और मुख पूर्ण-चन्द्र जैसा है। इसके बिम्बा फल जैसे अधरों का रक्तिम रंग चमकते दांतों में प्रतिबिम्बित हो रहा है। नील-कमल जैसे युगल नयनों से यह सुशोभित हो रही है। इसकी वाणी मस्त-कोकिला जैसी और चाल मतवाली हथिनी सदृश है। मदन के बाणों का कटाक्ष द्वारा प्रहार करते हुए भी मुझ पर अनुग्रह कर रही है" — अपनी कान्ता के विषयमें जो इस प्रकार की मान्यता रखता है, निश्चित ही वह अविवेकी है और कामदेव का दास हैं। विवेक की दृष्टि से इन मान्यताओं का विषय क्या है, यह मैं कहता हूँ, हे राजन! तुम सावधानी पूर्वक सुनो ॥ १०–१३ ॥

न च स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः ।
अमूर्तः पुरुषः पूर्णो द्रष्टा देही सजीवनः ।। १४ ।।
या तन्वङ्गी मृदुर्बाला मलपिण्डात्मिका जडा ।
सा न पश्यति यत्किञ्चिन् न शृणोति न जिघ्रति ।।१५।।
चर्ममात्रा तनुस्तस्या बुद्ध्या वीक्षस्व राघव ।
या प्राणादधिका सैव हंत ते स्याद्घृणास्पदम् ।।१६।।
जायन्ते यदि भूतेभ्यो देहिनः पाञ्चभौतिकाः ।
आत्मा यदेकलस्तेषु परिपूर्णः सनातनः ।
का कान्ता तत्र कः कान्तः सर्व एव सहोदराः ।।१७।।

यह विषय स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसकादि में से किसी भी प्रकार का नहीं है । ये भेद अवयव वाले विषय में ही सिद्ध होते हैं। प्रस्तुत विषय तो अवयव रहित और अमूर्त है। शरीर में निवास करनेसे इसे पुरुष कहते हैं । यह पूर्ण है, सबका द्रष्टा है और शरीरका अवलम्बन कर प्राण धारण का निर्वाह करता है ।। १४ ।। (यदि तुम कहते हो कि आत्म तत्त्वके द्वारा जीवित एवं सुन्दरता सम्पन्न इस देह उपाधिके कारण ही शोक-मोह हो रहा है, तो यह भी ठीक नहीं है।) क्योंकि सूक्ष्म कोमल अवयव वाली जो स्त्री देह है वह मल-पिण्ड एवं जड़ होनेसे न देखती है, न सुनती है न सूँघती है । उसके साथ प्रेमका आदान प्रदान हो नहीं सकता ।। १५ ।। विवेकबुद्धि के द्वारा देखो कि प्रिय कान्ता का यह शरीर चर्म की पुतली मात्र है । अतः प्राण से अधिक प्रिय लगनेवाला यह शरीर सचमुच घृणित ही है। घृणित विषय के वियोग से शोक होना उचित नहीं है ।। १६ ।।

अशोच्यता में दूसरा भी कारण है । देही आत्मा की उपाधिवाले सारे शरीर पञ्च महाभूतों से उत्पन्न होने से सबके सब सजातीय हैं । आत्मा प्रत्येक शरीरमें एकसी चैतन्यरूप होकर स्थित है । अतः जब सारे जीव चैतन्य-प्रकृति के गर्भ से समान रूपसे प्रकट

निर्मितायां गृहावल्यां तदवच्छिन्नतां गतम् ।
नभस्तस्यां तु दग्धायां न कांचित्क्षतिमृच्छति ॥१८॥
तद्वदात्मापि देहेषु परिपूर्णः सनातनः ।
हन्यमानेषु तेष्वेव स स्वयं नैव हन्यते ॥ १९ ॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
तावुभौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥२०॥
अस्मान्नृपातिदुःखेन किं खेदस्यास्ति कारणम् ।
स्वस्वरूपं विदित्वेदं दुःखं त्यक्त्वा सुखी भव ॥२१॥

होनेके कारण परस्पर सहोदर सिद्ध होते हैं तो फिर पति कौन है, पत्नी कौन है ? यह सम्बन्ध मिथ्या है जिसको लेकर शोक-मोह हो रहा है ॥ १७ ॥

निवासार्थ गृहमालिका निर्मित करनेपर वहाँ का आकाश अवच्छिन्न सा प्रतीत होता है परन्तु पुनः किसी कारणवश वह गृह दग्ध हो टूटके गिरजाता है तो अवच्छिन्न आकाश का नाश नहीं होता (और न गृह-निर्माणसे आकाश विभाजित ही हुआ था)।

इसी प्रकार शरीरों की उत्पत्ति से अवच्छिन्नसी प्रतीत होनेवाली आत्मा का उनके विनाश से नाश नहीं होता ॥ १८–१९ ॥

सांसारिक साधारण पुरुष इस बात को जाने बिना ही "मैं इसको मारूँगा" या "मैं इससे मारा जाऊँगा" इस प्रकार की धारणा करलेते हैं । परन्तु यह प्रत्यक्ष अनुभव होते हुए भी भ्रान्ति है, क्योंकि प्रत्यक्ष से भी प्रबलतर श्रुति-प्रमाण कहता है कि यह आत्मा न किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है ॥ २० ॥

इसलिये हे राजन ! अत्यन्त दुःख से दुखी होने का कोई कारण नहीं है । अपने इस आत्म-स्वरूप को भली-भांति जानकर दुःख को त्याग दो और सुखी हो जाओ ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच ।

मुने देहस्य नो दुःखं नैव चेत्परमात्मनः ।
सीतावियोगदुःखाग्निर् मां भस्मीकुरुते कथम् ॥ २२ ॥
सदाऽनुभूयते योऽर्थः स नास्तीति त्वयेरितः ।
जायतां तत्र विश्वासः कथं मे मुनिपुङ्गव ॥ २३ ॥
अन्योऽत्र नास्ति को भोक्ता येन जन्तुः प्रतप्यते ।
सुखस्य वापि दुःखस्य तद्ब्रूहि मुनिसत्तम ॥ २४ ॥

अगस्त्य उवाच ।

दुर्ज्ञेया शांभवी माया तया संमोह्यते जगत् ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ २५ ॥

श्रीरामने कहा — हे मुने ! यदि देह और आत्मा दोनों में से किसी को भी दुःख का अनुभव प्राप्त नहीं है तो सीता-वियोग रूपी अग्नि मुझे कैसे भस्म कर रही है ? ॥ २२ ॥ जिस दुःख का मुझे निरन्तर अनुभव हो रहा है उसके विषय में आपने युक्ति पूर्वक कहा है कि यह है ही नहीं । मुनिश्रेष्ठ ! इस बात में मेरा कैसे विश्वास होगा ? ॥ २३ ॥ देह और आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं जिस को हम सुख-दुख का भोक्ता मान सकें । (यदि ये दोनों भोक्ता हो नहीं सकते तो) समस्त मुनि-मण्डल में मूर्धन्य ! आप ही बताइये कि प्राणी को सन्तप्त करनेवाले प्रत्यक्षसिद्ध सुख-दुःख का भोक्ता कौन है ? क्योंकि बिना भोक्ता भोग सिद्ध नहीं होता ॥ २४ ॥

अगस्त्यजी ने कहा — शाम्भवी माया को समझना सरल नहीं है । उसीसे सारा जगत मोहित हो रहा है । माया शक्ति को प्रकृति कहते हैं और उस को धारण करनेवाला मायावी महेश्वर है। महेश्वर ही असंख्य भूतों का रूप धारण करके माया के प्रभाव से दृश्यमान जगत को व्याप्त करता है ॥ २५ ॥

सत्यज्ञानात्मकोऽनन्तो विभुरात्मा महेश्वरः ।
तस्यैवांशो जीवलोके हृदये प्राणिनां स्थितः ।। २६ ।।
विस्फुलिङ्गा यथा वह्नेर्जायन्ते काष्ठयोगतः ।
अनादिकर्मसंबद्धास्तद्वदंशा महेशितुः ।
अनादिवासनायुक्ताः क्षेत्रज्ञा इति ते स्मृताः ।। २७ ।।
मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ।
अन्तःकरणमित्याहुस्तत्र ते प्रतिबिम्बिताः ।। २८ ।।
जीवत्वं प्राप्नुयुः कर्मफलभोक्तार एव ते ।
ततो वैषयिकं तेषां सुखं वा दुःखमेव वा ।
त एव भुञ्जते भोगायतनेऽस्मिन् शरीरके ।। २९ ।।
स्थावरं जङ्गमं चेति द्विविधं वपुरुच्यते ।
स्थावरास्तत्र देहाः स्युः सूक्ष्मा गुल्मलतादयः ।
अण्डजाः स्वेदजास्तद्वदुद्भिज्जा इति जङ्गमाः ।। ३० ।।

सत्य-ज्ञान-स्वरूप, अनन्त और वैभवपूर्ण उस महेश्वर का ही अंशरूप जीव प्राणियों के शरीर में हृदय-स्थान में स्थित है।। २६ ।।

जैसे लकड़ी को जलाने पर अग्निमें से अनेक चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार अनादि कर्म के सम्बन्ध से महेश्वर–अंशरूप जीव प्रकट होते हैं। अनादि वासनाओं से युक्त वे ईश्वरांश 'क्षेत्रज्ञ' नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं।। २७ ।।

मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त–इस चतुष्टय को अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बत हुआ चैतन्य नाना जीवत्वभाव को प्राप्तकरके कर्मफल का भोक्ता बन जाता है। उन्हीं (अनिर्वाच्य, मिथ्या स्वरूप चिदाभास) जीवों को विषयों का सुख-दुख रूप से अनुभव होता है। ये चिदाभास जीव, अध्यास से शरीर को आधार बनाकर करणों के द्वारा विषयों का अनुभव करते हैं।।२८-२९ ।।

शरीर स्थावर और जंगम भेद से दो प्रकार का है। पेड़ पौधे बेल आदि, जिन में चेतना अति मन्द है, स्थावर हैं। अण्डज (पक्षि-

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।। ३१ ।।
सुख्यहं दुःख्यहं चेति जीव एवाभिमन्यते ।
निर्लेपोऽपि परं ज्योतिर्मोहितः शंभुमायया ।। ३२ ।।
कामः क्रोधस्तथा लोभो मदो मात्सर्यमेव च ।
मोहश्चेत्यरिषड्वर्गमहंकारगतं विदुः ।। ३३ ।।
स एव बद्ध्यते जीवः स्वप्नजाग्रदवस्थयोः ।
सुषुप्तौ तदभावाच्च जीवः शंकरतां गतः ।। ३४ ।।

सर्पादि), स्वेदज (जूँ, लीखादि) एवं गर्भको फाड़ कर निकलनेवाले पशु, मनुष्यादि जंगम शरीर हैं ।। ३० ।।

(श्रुति कहती है कि) प्रत्येक जीव अपने पूर्व कर्म और वासनाओं के अनुसार पुण्य-भोग के लिये उत्तम योनि को या पाप के प्रभाव से स्थावर योनि को प्राप्त होता है। वहाँ जाकर वह जीव परंज्योति चैतन्य स्वरूप से निर्लिप्त होते हुए भी शंभु की माया से मोहित हो उस देह के साथ अभिमान करके स्वयं को दुखी-सुखी ऐसा मान लेता है।। ३१-३२ ।।

काम (इष्ट बुद्धि), क्रोध (अनिष्ट बुद्धि), लोभ (प्राप्त में असंतोष के कारण अधिक की तृष्णा), मद (घमंड), मात्सर्य (दूसरों के सद्गुणों को देखकर असह्यता) और मोह (अविवेक) मनुष्यके छः शत्रु हैं। इन को अहंकार में स्थित माना जाता है ।। ३३ ।। इनके द्वारा ही जीव जाग्रत और स्वप्नावस्था के बन्धन में पड़ता है। सुषुप्ति में देहाभिमान रूप अहं का अभाव होने से, इन बन्धनों से मुक्त हुआ जीव शंकर रूप हो जाता है।। ३४ ।। वही जीव फिर माया के स्पर्श से मायापरिणाम अन्तःकरण से संबन्धित हो निष्प्रपञ्च शिव में प्रपञ्च को देखने लगता है, जैसे भ्रान्ति के कारण कोई पुरुष सीप में चाँदी देख लेता है। यही उस के सुख-दुख का कारण है।। ३५ ।। विवेक-

स एव मायासंस्पृष्टः कारणं सुखदुःखयोः ।
शुक्तौ रजतवद्विश्वं मायया दृश्यते शिवे ।। ३५ ।।
ततो विवेकज्ञानेन न कोऽप्यत्रास्ति दुःखभाक् ।
ततो विरम दुःखात् त्वं किं मुधा परितप्यसे ।। ३६ ।।

श्रीराम उवाच ।

मुने सर्वमिदं तथ्यं यन्मदग्रे त्वयेरितम् ।
तथापि न जहात्येतत् प्रारब्धादृष्टमुल्बणम् ।। ३७ ।।
मत्तं कुर्याद्यथा मद्यं नष्टाविद्यमपि द्विजम् ।
तद्वत्प्रारब्धभोगोऽपि न जहाति विवेकिनम् ।। ३८ ।।
ततः किं बहुनोक्तेन प्रारब्धसचिवः स्मरः ।
बाधते मां दिवारात्रमहंकारोऽपि तादृशः ।। ३९ ।।
अत्यन्तपीडितो जीवः स्थूलदेहं विमुञ्चति ।
तस्माज्जीवाप्तये मह्यमुपायः क्रियतां द्विज ।। ४० ।।

जनित ज्ञान से देखने पर वास्तव में दुःखादि का भोक्ता कोई है ही नहीं। इस प्रकार निश्चय कर तुम दुःख से दूर हो जाओ। अविचारसे तुम क्यों सन्तप्त हो रहे हो?।।३६।।

श्रीरामने कहा — मुने! आपने मेरे समक्ष जो कुछ कहा है वह सब यथार्थ है। तथापि प्रारब्ध का अदृष्ट दुःख–मल जीव को छोड़ता नहीं।। ३७।। विचारवान उत्तम ब्राह्मण भी मद्यपान करलेनेपर मत्त हो ही जाता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष भी प्रारब्ध के उदय होने पर उस के भोग से दूर नहीं हो पाता है।। ३८।। मैं अधिक क्या कहूँ — प्रारब्ध का सचिव कामदेव एवं दृढ़ अहंकार दोनों मिलकर मुझे रात-दिन दग्ध कर रहे हैं। अत्यन्त दुःख से पीड़ित जीव स्थूल शरीर को छोड़ देता है। अतः हे विप्रवर, मुझे जीव धारण का उपाय बताइये।। ३९-४०।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे वैराग्योपदेशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणके उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूपी ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक शिवगीता उपनिषद्शास्त्र में वैराग्योपदेश नामक दूसरा अध्याय संपूर्ण हुआ ।

तृतीयोऽध्यायः

अगस्त्य उवाच ।

न गृह्णाति वचः पथ्यं कामक्रोधादिपीडितः ।
हितं न रोचते तस्य मुमूर्षोरिव भेषजम् ।। १ ।।
मध्येसमुद्रं या नीता सीता दैत्येन मायिना ।
आयास्यति नरश्रेष्ठ सा कथं तव संनिधिम् ।। २ ।।
बध्यन्ते देवताः सर्वा द्वारि मर्कटयूथवत् ।
किं च चामरधारिण्यो यस्य सन्ति सुराङ्गनाः ।। ३ ।।

अध्याय ३

विरजा दीक्षा निरूपण

अगस्त्यजी ने कहा — मरणासन्न के मुख में अमृत डालने पर भी अन्दर नहीं जाता है। उसी प्रकार काम-क्रोधादि से पीड़ित मनुष्य हितकारी पथ्य वचन को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। हित की बात उसे अच्छी नहीं लगती है। नरों में श्रेष्ठ राम! जिस आत्म-विचार को अपनाना सम्भव है उसे छोड़ कर तुम असाध्य कार्य को साधना चाहते हो। जिस सीता को दैत्यों के राजा रावण ने समुद्रके मध्य में स्थित लङ्कापुरी में लेजा कर बन्द कर रखा है, वह तुम्हारे निकट कैसे आ सकती है? सारे देवता जिस रावण के द्वार पर, मनोरञ्जन के लिये बँधी बन्दरों की टोली की तरह, दृष्टिगोचर होते हैं, सुराङ्गनाएँ चँवर हाथ में लिए जिसकी सेवा में उपस्थित हैं, वह शम्भु के वरदान से गर्व को प्राप्त हुआ निर्विघ्न त्रिलोकी का भोग कर रहा है। उस को तुम कैसे जीतोगे?।। १-४ ।।

(रावण अकेला ही बड़ा बलवान है, इस के अतिरिक्त उसका सहायक दल भी बहुत प्रबल है।) उसका इन्द्रजित् नाम वाला

भुङ्क्ते त्रिलोकीमखिलां यः शंभुवरदर्पितः ।
निष्कण्टकं तस्य जयः कथं तव भविष्यति ॥ ४ ॥
इन्द्रजिन्नाम पुत्रो यस्तस्यास्तीश-वरोद्धतः ।
तस्याग्रे संगरे देवा बहुवारं पलायिताः ॥ ५ ॥
कुम्भकर्णाह्वयो भ्राता यस्यास्ति सुरसूदनः
अन्यो दिव्यास्त्रसंयुक्तश्चिरजीवी विभीषणः ॥ ६ ॥
दुर्गं यस्यास्ति लंकाख्यं दुर्जेयं देवदानवैः ।
चतुरङ्गबलं यस्य वर्तते कोटिसंख्यया ।
एकाकिना त्वया जेयः स कथं नृपनन्दन ॥ ७ ॥
आङ्काक्षते करे धर्तुं बालश्चन्द्रमसं यथा ।
तथा त्वं काममोहेन जयं तस्याभिवाञ्छसि ॥ ८ ॥

पुत्र तपस्या के फलस्वरूप ईश्वर से अमोघ वर प्राप्त करके उद्दण्ड हो गया है। देव-गण उस के सामने अनेक बार संग्राम में भाग खड़े हुए हैं। रावण का एक भ्राता कुम्भकर्ण नाम से प्रसिद्ध है जो सुरों को परास्त करने में समर्थ है। दूसरा भाई विभीषण अनेक दिव्य-अस्त्रोंसे सम्पन्न है तथा चिरजीवी है। रावणकी लंकापुरी ऐसे दृढ़ प्राचीरों से रक्षित है जिस को देव या दानव कोई नहीं जीत सकते। उसके अन्दर करोड़ों की संख्या में चतुरंगिणी सेना विद्यमान है। हे राजकुमार! इस को दल-बल के बिना अकेले ही कैसे जीत सकोगे? जैसे बालक पूर्ण-चन्द्रको देखकर उसे अपने हाथों में पकड़ना चाहता है उसी प्रकार तुम काम से मोहित हो रावण को जीतने की आशा करते हो॥ ५-८ ॥

श्रीराम ने कहा — मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी! आप को यह भूलना नहीं चाहिये कि मैं क्षत्रिय हूँ। मेरी भार्या राक्षस के द्वारा अपहृत हुई है। ऐसी अवस्था में यदि मैं उस अधर्मी वैरी को शीघ्रातिशीघ्र न मार डालूँ तो मेरा क्षत्रिय-शरीर धारण करना व्यर्थ

श्रीराम उवाच ।

क्षत्रियोऽहं मुनिश्रेष्ठ भार्या मे रक्षसा हृता ।
यदि तं न निहन्म्याशु जीवने मेऽस्ति किं फलम् ।।९।।
अतस्ते तत्त्वबोधेन न मे किंचित्प्रयोजनम् ।
कामक्रोधादयः सर्वे दहन्त्येते तनुं मम ।
अहंकारोऽपि मे नित्यं जीवनं हन्तुमुद्यतः ।। १० ।।
हृतायां निजकान्तायां शत्रुणाऽवमतस्य वा ।
यस्य तत्त्वबुभुत्सा स्यात् स लोके पुरुषाधमः ।।११।।
तस्मात् तस्य वधोपायं लङ्घयित्वाम्बुधिं रणे ।
ब्रूहि मे मुनिशार्दूल त्वत्तो नान्योऽस्ति मे गुरुः ।।१२।।

है। अतः आप के तत्त्व-ज्ञान के उपदेश से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। स्वकान्ता के अनुराग और विरोधी पर क्रोधादि भावों की तीव्रता में मेरा त्रिविध शरीर सन्तप्त है। "मैं क्षत्रिय हूँ" यह अहं भाव भी मुझे इस असह्यपरतन्त्र जीवन को समाप्त करने के लिये बाध्य कर रहा है। निज कान्ताके हरण होने पर और शत्रुओं से अपमानित होकर जो पुरुष उस दीनता से बचने के लिये तत्त्व-जिज्ञासा के नाम पर कर्म से दूर होता है, वह संसार में सब से अधम है। अतः हे मुनीश्वर! मुझे ऐसा उपाय बताईये जिससे मैं समुद्र को लाँघकर रावण के पास पहुँचूँ और युद्ध-भूमि में उसका वध करूँ। आप के सिवा मेरा पथ-प्रदर्शक गुरु और कोई नहीं है॥ ९-१२॥

अगस्त्यजी ने कहा — यदि तुम्हारी ऐसी ही धारणा है तो अविनाशी प्रभु श्रीपार्वती-पति की शरण में जाओ। उन को प्रसन्न करो तो वे तुम्हारी मनो-कामना पूर्ण करेंगे। हरि, इन्द्र और ब्रह्मादि देवों के लिये भी अजेय उस रावण का वध ईश्वर के अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं है। उस अनुग्रह प्राप्ति के लिए विरजा-दीक्षा प्रतिपादक शास्त्रों का अवलम्बन लेकर मैं तुम्हें पाशु-पत व्रत में दीक्षित

अगस्त्य उवाच ।

एवं चेच्छरणं याहि पार्वतीपतिमव्ययम् ।
स चेत् प्रसन्नो भगवान् वाञ्छितार्थं प्रयच्छति ॥१३॥
देवैरजेयः शक्राद्यैर्हरिणा ब्रह्मणापि वा ।
स ते वध्यः कथं वा स्याच्छंकरानुग्रहं विना ॥१४॥
अतस्त्वां दीक्षयिष्यामि विरजामार्गमाश्रितः ।
तेन मार्गेण मर्त्यत्वं हित्वा तेजोमयो भव ॥ १५ ॥
येन हत्वा रणे शत्रून् सर्वान्कामानवाप्स्यसि ।
भुक्त्वा भूमण्डलं चान्ते शिवसायुज्यमाप्स्यसि ॥ १६ ॥

सूत उवाच ।

अथ प्रणम्य रामस्तं दण्डवन्मुनिसत्तमम् ।
उवाच दुःखनिर्मुक्तः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १७ ॥

करूँगा। उस व्रत के द्वारा तुम्हारा शरीर साधारण मानव-देह न रहकर तेजोमय हो जायेगा। इस से तुम रण-भूमि में शत्रु को मारकर अपनी सभी कामनाओं को पूर्ण करोगे। यावज्जीवन इस भूमण्डल का उपभोग करके अन्त में शिव-सायुज्य प्राप्त करोगे॥ १२-१६ ॥

सूतजी ने कहा — अगस्त्य ऋषि की यह बात सुनकर श्री राम का दुःख तत्क्षण दूर हो गया एवं चित्त में प्रसन्नता आ गई। वे उन मुनिश्रेष्ठ को प्रणाम करके बोले॥ १७ ॥

मुने! मैं कृतार्थ हो गया हूँ। मेरा वाञ्छितार्थ प्राप्त हो गया है। जिन्होंने समुद्र को ही आचमन के रूपमें पी डाला था ऐसे शक्तिमान आप हमारे ऊपर प्रसन्न हैं तो मुझे क्या दुर्लभ है? मुनिश्रेष्ठ! मैं श्रद्धा एवं उत्साह से आप की आज्ञा-पालन के लिये तत्पर हूँ। अतः आप विरजा दीक्षा का उपदेश मुझे प्रदान करें॥१८॥

श्रीराम उवाच ।

कृतार्थोऽहं मुने जातो वाञ्छितार्थो ममागतः ।
पीताम्बुधिः प्रसन्नस्त्वं यदि मे किमु दुर्लभम् ।
अतस्त्वं विरजां दीक्षां ब्रूहि मे मुनिसत्तम ।। १८ ।।

अगस्त्य उवाच ।

शुक्लपक्षे चतुर्दश्यामष्टम्यां वा विशेषतः ।
एकादश्यां सोमवारे आर्द्रायां वा समारभेत् ।। १९ ।।
यं वाममाहुर्यं रुद्रं शाश्वतं परमेश्वरम् ।
परात्परं परं चाहुः परात्परतरं शिवम् ।
ब्रह्मणो जनकं विष्णोर्वह्लेर्वायोः सदाशिवम् ।। २० ।।

अगस्त्यजी ने कहा — इस व्रतको शुक्ल-पक्षकी चतुर्दशी, अष्टमी या एकादशी तिथि को आर्द्रा नक्षत्रयोग में या सोमवार के दिन आरम्भ करना चाहिये । जिस का श्रुतियों में वायु एवं रुद्र नाम से उल्लेख है, जो पर, परात्पर एवं परात्परतर भी है, जो ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि, वायु आदि का भी उत्पादक सदाशिव है उस कल्याणमय परमेश्वरका पहले ध्यान करें । तदनंतर "रं" इस अग्नि बीज से शरीर के अन्दर रहनेवाले आत्मानल की भावना करके पञ्च महाभूतों का अलग-अलग शोधन करें। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व क्रमशः पाँच, चार, तीन, दो और एक तन्मात्रा से सम्पन्न हैं। इनके अन्दर कार्यकारण भाव का क्रम होने से पूर्व-पूर्व तत्त्वका उत्तरोत्तर में क्रमशः लय होता है। पृथ्वी आदि पाँचों तत्त्वों का लय आकाश के भी कारण अव्यक्त-प्रकृति-तत्त्व में होता है । यही अमात्र कहलाता है। इसकी भी उस शुद्ध आत्म चैतन्य में स्थिति होती है जिस को 'द्वादशान्त' कहते हैं। वहाँ अपनी चेतनता को स्थित करते हुए अमृतमय स्वरूप को प्राप्त कर पाशु-पत व्रत आरम्भ करना चाहिये। अब इस व्रत का मैं संक्षेप में वर्णन करता हूँ ।।१९-२३।।

ध्यात्वाग्निनाऽवसथ्याग्निं विशोध्य च पृथक्पृथक् ।
पञ्चभूतानि संयम्य ध्यात्वा गुणविधिक्रमात् ।। २१ ।।
मात्राः पञ्च चतस्रश्च त्रिमात्रा द्विस्ततः परम् ।
एकमात्रममात्रं हि द्वादशान्तव्यवस्थितम् ।। २२ ।।
स्थित्यां स्थाप्यामृतो भूत्वा व्रतं पाशुपतं चरेत् ।
इदं व्रतं पाशुपतं कथयिष्ये समासतः ।। २३ ।।
प्रातरेवं तु संकल्प्य निधायाग्निं स्वशाखया ।
उपोषितः शुचिः स्नातः शुक्लाम्बरधरः स्वयम् ।।२४।।
शुक्लयज्ञोपवीतश्च शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
जुहुयाद् विरजामन्त्रैः प्राणापानादिभिस्ततः ।। २५ ।।
अनुवाकान्तमेकाग्रः समिदाज्यचरून्पृथक् ।
आत्मन्यग्निं समारोप्य याते अग्नेति मन्त्रतः ।। २६ ।।

प्रातःकाल नियमपूर्वक संकल्प करके वेद की स्वशाखा के अनुसार अग्नि का स्थापन करे। उपवास या व्रत ग्रहण करनेवाला शुद्ध अन्तःकरणवाला साधक स्नान करके श्वेतवस्त्र, श्वेत यज्ञोपवीत एवं श्वेत पुष्प-माला धारण कर, तथा श्वेतचन्दन का अनुलेप करके उस अग्नि में विरजा मन्त्रों के द्वारा आहुति दे। समित्, घी, एवं चरू से मन्त्राहुति देने के बाद एकाग्रचित्त होकर प्राणायाम के द्वारा आत्मस्वरूप अनल में प्राणों की आहुति दे। फिर हवन की भस्म को "याते अग्नि . . ." इस मन्त्रसे ग्रहण करे और "अग्निरिति भस्म . . ." आदि मन्त्रोंके उच्चारण पूर्वक शरीर के तत्-तत् अंगों में लगावे। भस्म से आच्छादित उपासक महापातक आदि से भी मुक्त हो जाता है, इस में सन्देह नहीं है। भस्म अग्नि का वीर्य है, अतः भस्मयुक्त पुरुष वीर्यवान होता है।। २४-२८ ।। जो विप्र इन्द्रियों को वश में रखते हुए नित्य भस्म स्नान करता है और भस्म शय्या पर ही शयन करता है वह सारे पापों से छूट कर मरणोपरान्त

भस्मादायाग्निरित्याद्यैर्विमृज्याङ्गानि संस्पृशेत् ।
भस्मच्छन्नो भवेद्विद्वान्महापातकसंभवैः ।। २७ ।।
पापैर्विमुच्यते सत्यमुच्यते च न संशयः ।
अग्निवीर्यं यतो भस्म वीर्यवान्भस्मसंयुतः ।। २८ ।।
भस्मस्नानरतो विप्रो भस्मशायी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् ।। २९ ।।
एवं कुरु महाभाग शिवनामसहस्रकम् ।
इदं तु संप्रदास्यामि तेन सर्वार्थमाप्स्यसि ।। ३० ।।

सूत उवाच ।

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै शिवनामसहस्रकम् ।
वेदसाराभिधं नित्यं शिवप्रत्यक्षकारकम् ।। ३१ ।।

शिव-सायुज्य प्राप्त करता है ।। २९ ।। हे महाभाग राम! इस प्रकार भस्म धारण करके तुम प्रति दिन शिव-सहस्र नाम का पाठ करना। इस सहस्र नाम पाठ का भी मैं तुम्हें विशेष विधान बतलाता हूँ ।। ३० ।।

सूतजी ने कहा — ऐसा कहकर अगस्त्यजी ने श्रीराम को वेदसार नामवाले उस शिव सहस्रनाम का उपदेश दिया जिससे शिव प्रत्यक्ष हो जाते हैं ।।३१ ।।

उन्होंने यह भी कहा — हे राम! इस का तुम रात-दिन जप किया करो। इससे प्रसन्न होकर भगवान तुम्हें पाशुपतास्त्र प्रदान करेंगे जिससे तुम शत्रु का वध करके प्रिय कान्ता सीता को प्राप्त करोगे ।। ३२ ।। उसी अस्त्र की महिमा से समुद्र का भी शोषण कर सकते हो। पार्वतीपति भगवान रुद्र जगत का संहार करते समय इसी अस्त्र का प्रयोग करते हैं ।। ३३ ।।

उक्तं च तेन राम त्वं जप नित्यं दिवानिशम् ।
ततः प्रसन्नो भगवान्महापाशुपतास्त्रकम् ।
तुभ्यं दास्यति तेन त्वं शत्रून्हत्वाऽप्स्यसि प्रियाम् ।।३२।।
तस्यैवास्त्रस्य माहात्म्यात्समुद्रं शोषयिष्यसि ।
संहारकाले जगतामस्त्रं तत्पार्वतीपतेः ।। ३३ ।।
तदलाभे दानवानां जयस्तव सुदुर्लभः ।
तस्माल्लब्धुं तदेवास्त्रं शरणं याहि शंकरम् ।। ३४ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे विरजादीक्षानिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस की प्राप्ति के बिना रावणादि दानवों को जीतना अत्यन्त कठिन है। अतः उस अस्त्र की प्राप्तिके लिये भगवान शंकर की शरण में जाओ॥ ३४॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक शिवगीता-उपनिषद्शास्त्र में विरजादीक्षा निरूपण नामक तीसरा अध्याय संपूर्ण हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः

सूत उवाच ।

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ गते तस्मिन्निजाश्रमम् ।
अथ रामगिरौ रामः पुण्ये गोदावरीतटे ॥ १ ॥
शिवलिङ्गं प्रतिष्ठाप्य कृत्वा दीक्षां यथाविधि ।
भूतिभूषितसर्वाङ्गो रुद्राक्षाभरणैर्युतः ॥ २ ॥
अभिषिच्य जलैः पुण्यैर्गौतमीसिन्धुसंभवैः ।
अर्चयित्वा वन्यपुष्पैस्तद्वद् वन्यफलैरपि ॥ ३ ॥
भस्मच्छन्नो भस्मशायी व्याघ्रचर्मासने स्थितः ।
नाम्नां सहस्रं प्रजपन् नक्तंदिवमनन्यधीः ॥ ४ ॥

अध्याय ४

शिव-प्रादुर्भाव

सूतजीने कहा — ऐसा कहकर मुनि-श्रेष्ठ अगस्त्यजी अपने आश्रम को लौट गये ॥१॥ तदनन्तर श्रीरामने वहाँ राम-गिरि नामक स्थान में गोदावरी के पवित्र तट पर शिव-लिंग की स्थापना कर के विरजा दीक्षा को यथाविधि ग्रहण किया । अपने समस्त अंगों को उन्होंने विभूति और रुद्राक्ष के आभरणों से भूषित किया। गौतमी नदी से पुण्य-तीर्थ-जल लाकर शिवलिंग का अभिषेक करके वन्य फल-फूलों से पूजा की । भस्माच्छन्न हो भस्म शय्या पर बाघाम्बर का आसन बिछा, स्थिर रूपसे बैठकर रात-दिन अनन्य बुद्धि से शिव-सहस्रनाम का जप करने लगे ॥ २–४ ॥

मासमेकं फलाहारो मासं पर्णाशनः स्थितः ।
मासमेकं जलाहारो मासं च पवनाशनः ।।५।।
शान्तो दान्तः प्रसन्नात्मा ध्यायन्नेवं महेश्वरम् ।
हृत्पङ्कजे समासीनमुमादेहार्धधारिणम् ।।६।।
चतुर्भुजं त्रिनयनं विद्युत्पिङ्गजटाधरम् ।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।।७।।
सर्वाभरणसंयुक्तं नागयज्ञोपवीतिनम् ।
व्याघ्रचर्माम्बरधरं वरदाभयधारिणम् ।।८।।
व्याघ्रचर्मोत्तरीयं च सुरासुरनमस्कृतम् ।
पञ्चवक्त्रं चन्द्रमौलिं त्रिशूलडमरूधरम् ।।९।।

उन्होंने प्रथम मास में फलाहार व द्वितीय में पत्तों का आहार किया। तृतीय मास में मात्र जल पोकर रहे और चतुर्थ में अन्न-जल का परित्याग कर केवल वायु के ऊपर निर्भर रहने लगे ।।५।।

इन्द्रियों एवं अन्तःकरण का निग्रह करते हुए वह बिना किसी क्लेश के प्रसन्न चित्त से महेश्वर के ध्यान में मग्न हुए। हृत्कमल के बीच पद्मासन में आसीन, उमादेहार्धधारी चतुर्भुज, त्रिनयन, विद्युत्प्रभा तुल्य देदीप्यमान, पिङ्गलजटा धारण किये, करोड़ों सूर्य की कान्तिवाले, परन्तु करोड़ों चन्द्र जैसी सुशीतल आभावाले, सर्वाभूषणों से भूषित, नाग यज्ञोपवीत पहने, बाघाम्बर का ही उत्तरीय व कटि-वस्त्र धारण किये, नीचे के उभय हस्त में वर एवं अभय-मुद्रा धारण किये तथा ऊपर के दोनों हाथों में डमरू और त्रिशूल धारण किये, सुर-असुरों के द्वारा वन्दित, पाँचमुखवाले, चन्द्रमौलि, नित्य, शाश्वत, शुद्ध, ध्रुव, अक्षर, अव्यय परमात्मा शंकर का इस प्रकार ध्यान पूर्वक जप करते हुए श्रीराम को चार मास व्यतीत हो गये ।।६–१०।। उस कालावधि के बाद वहाँ प्रलय-

नित्यं च शाश्वतं शुद्धं ध्रुवमक्षरमव्ययम् ।
एवं नित्यं प्रजपतो गतं मासचतुष्टयम् ॥ १० ॥
अथ जातो महानादः प्रलयाम्बुदभीषणः ।
समुद्रमथनोद्भूतमन्दरावनिभृद्ध्वनिः ॥ ११ ॥
रुद्रबाणाग्निसंदीप्तभ्रश्यत्त्रिपुरविभ्रमः ।
तमाकर्ण्याथ संभ्रान्तो यावत्पश्यति पुष्करम् ॥ १२ ॥
तावदेव महातेजो रामस्यासीत्पुरो द्विजाः ।
तेजसा तेन संभ्रान्तो नापश्यत्स दिशो दश ॥ १३ ॥
अन्धीकृतेक्षणस्तूर्णं मोहं यातो नृपात्मजः ।
विचिन्त्य तर्कयामास दैत्यमायां द्विजेश्वराः ॥ १४ ॥
अथोत्थाय महावीरः सज्जं कृत्वा स्वकं धनुः ।
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्दिव्यास्त्रैरभिमन्त्रितैः ॥ १५ ॥

काल की मेघ-गर्जना के समान भीषण महानाद अभिव्यक्त हुआ । मन्दराचल को समुद्र में डाल के मन्थन करते समय या रुद्रबाण से प्रदीप्त त्रिपुर विध्वंस के समय जैसी भयंकर ध्वनि को सुनकर श्रीराम व्याकुल हो गये और जबतक नयन खोलकर सामने दृष्टिपात किया, वहाँ एक प्रचण्ड तेज प्रकट हुआ जिससे क्षण भर में दशरथ नन्दन श्रीराम की आँखें अंधी हो गयीं । हे ऋषिगण! उन्होंने विचारपूर्वक निश्चय किया कि, यह दैत्यों की माया है ॥११–१४॥

ऐसा सोचकर वह महावीर उठ खड़े हुए और धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर तीक्ष्ण तथा अभिमन्त्रित दिव्यास्त्रों से प्रहार करने लगे ॥१५॥ श्रीराम ने आग्नेय, वारुण, सौम्य, मोहन, सौर, पावक, विष्णुचक्र, महाचक्र, कालचक्र, वैष्णव, रौद्र, ब्राह्म, कौबेर, कुलिश, अनिल और भार्गव आदि बहुत से अस्त्रों का प्रयोग किया ॥१६–१७॥ उन के ये सभी अस्त्र–शस्त्र उस महान

आग्नेयं वारुणं सौम्यं मोहनं सौरपावकं ।
विष्णुचक्रं महाचक्रं कालचक्रं च वैष्णवम् ।। १६ ।।
रौद्रं पाशुपतं ब्राह्मं कौबेरं कुलिशानिलम् ।
भार्गवादिबहून्यस्त्राण्ययं प्रायुङ्क्त राघवः ।। १७ ।।
तस्मिंस्तेजसि शस्त्राणि चास्त्राण्यस्य महिपतेः ।
विलीनानि महाभ्रस्य करका इव नीरधौ ।। १८ ।।
ततः क्षणेन जज्वाल धनुस्तस्य कराच्च्युतम् ।
तूणीरं चाङ्गुलित्राणं गोधिकापि महीपतेः ।। १९ ।।
तदृष्टाव लक्ष्मणो भीतः पपात भुवि मूर्च्छितः ।
अथाकिञ्चित्करो रामो जानुभ्यामवनिं गतः ।।२०।।
मीलिताक्षो भयाविष्टः शंकरं शरणं गतः ।
स्वरेणाप्युच्चरन्नुच्चैः शंभोर्नामसहस्रकम् ।। २१ ।।
शिवं च दण्डवद्भूमौ प्रणनाम पुनः पुनः ।
पुनश्च पूर्ववच्चासीच्छब्दो दिङ्मण्डलं ग्रसन् ।।२२।।

तेज के गर्भ में इस प्रकार विलीन हो गये जैसे समुद्र जल में ओले ।।१८।। उस के दूसरे क्षण ही श्रीराम का धनुष भी आग से प्रज्ज्वलित होकर हाथ से छूट कर गिर गया। उन के तरकस और हाथ के रक्षक कवच का भी यही हाल हुआ ।।१९।।

इस को देख कर लक्ष्मण भय से मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गये । उस दशा में श्रीराम कुछ कर नहीं सके, स्वयं भय से आक्रान्त, घुटनों के बल पृथ्वी पर बैठ गये ।।२०।। उन्होंने नेत्र बन्द करके मन ही मन भगवान शंकर की शरण ली । फिर उच्च स्वर में शिव-सहस्र नाम का उच्चारण करते हुए बार-बार दण्डवत प्रणाम किया । इतने में पुनः पहले की भाँति दिग्व्यापी महान शब्द हुआ ।।२१–२२।। पृथ्वी विचलित हो उठी, पर्वत प्रकम्पित होने लगे । दूसरे ही क्षण चन्द्रिका जैसे शीतल

चचाल वसुधा घोरं पर्वताश्च चकम्पिरे ।।
ततः क्षणेन शीतांशुशीतलं तेज आपतत् ।। २३ ।।
उन्मीलिताक्षो रामस्तु यावदेतत्प्रपश्यति ।
तावद्ददर्श वृषभं सर्वालंकारसंयुतम् ।। २४ ।।
पीयूषमथनोद्भूतनवनीतस्य पिण्डवत् ।
प्रोतस्वर्णं मरकतच्छायशृङ्गद्वयाञ्चितम् ।। २५ ।।
नीलरत्नेक्षणं ह्रस्वकण्ठकम्बलभूषितम् ।
रत्नपल्याणसंयुक्तं निबद्धं श्वेतचामरैः ।। २६ ।।
घण्टिकाघर्घरीशब्दैः पूरयन्तं दिशो दश ।
तत्रासीनं महादेवं शुद्धस्फटिकविग्रहम् ।। २७ ।।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं कोटिशीतांशुशीतलम् ।
व्याघ्रचर्माम्बरधरं नागयज्ञोपवीतिनम् ।। २८ ।।

प्रकाश की वृष्टि होने लगी ॥२३॥ उस के स्पर्श से श्रीराम के नेत्र खुल गये और उन्होंने देखा कि उनके समक्ष सर्वालंकार संयुक्त वृषभ खड़ा है ॥२४॥ वह क्षीर-सागर के मन्थन से उत्पन्न नवनीत महापिण्ड की भाँति श्वेत और स्निग्ध था । अग्रभाग में स्वर्ण-जटित उसके सींग मरकत मणि जैसे थे ॥२५॥ उसकी आँखें नीलम सी तथा गल-कंबल रमणीक था । पीठ पर रत्न जटित बिछावन था जिसके दोनों ओर श्वेत-चँवर लटक रहे थे॥२६॥ गले में बँधी हुई घण्टिका और घर्घरी की सुन्दर ध्वनि सारी दिशाओं में फैल रही थी । उसके ऊपर शुद्ध-स्फटिक-मूर्ति के समान महादेव विराजमान थे ॥२७॥

करोड़ों सूर्यों की कान्ति, करोड़ों चन्द्रमाओं की शीतलता, बाघाम्बर का वसन एवं उत्तरीय, नाग-यज्ञोपवीत तथा विद्युत-ज्योतिर्मय जटायें धारण किये, समस्त अलङ्कारों से आभूषित नील-कण्ठ, मुकुट में चन्द्रकला से शोभित, नाना आयुधों को लिये

सर्वालंकारसंयुक्तं विद्युत्पिङ्गजटाधरम् ।
नीलकण्ठं व्याघ्रचर्मोत्तरीयं चन्द्रशेखरम् ॥ २९ ॥
नानाविधायुधोद्भासिदशबाहुं त्रिलोचनम् ।
युवानं पुरुषश्रेष्ठं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ ३० ॥
तत्रैव च सुखासीनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
नीलेन्दीवरदामाभामुद्यन्मरकतप्रभाम् ॥ ३१ ॥
मुक्ताभरणसंयुक्तां रात्रिताराञ्चितामिव ।
विन्ध्यक्षितिधरोत्तुङ्गकुचभारभरालसाम् ॥ ३२ ॥
सदसत्संशयाविष्टमध्यदेशान्तरां वराम् ।
दिव्याभरणसंयुक्तां दिव्यगन्धानुलेपनाम् ॥ ३३ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरां नीलेन्दीवरलोचनाम् ।
अलकोद्भासिवदनां ताम्बूलग्रासशोभिताम् ॥ ३४ ॥

दस भुजायें, तीन नेत्र और युवावस्था-सम्पन्न उत्तम पुरुषरूप धारी उन साक्षात् सच्चिदानंद-मूर्ति शिव को श्रीराम ने देखा ॥२८-३०॥

उसी वृषभ पर पूर्ण-चन्द्र मुखी एवं नील कमल समूह जैसी श्याम आभा वाली जगन्माता को भी रघुनन्दन ने देखा । मोतियों के आभूषणों से अलंकृत अम्बिका तारांकित रात्रि के गगन जैसी लग रही थीं । विन्ध्याचलवत् उत्तुंग कुच-भार से देह तनिक-सी झुक रही थी । उनका सुन्दर व अति सूक्ष्म कटि प्रदेश दृष्टा के मन में 'है भी या नहीं' इस प्रकार संशय उत्पन्न करने वाला था। वे दिव्य आभरण, दिव्य-गन्धानुलेपन और दिव्य माला धारण किये हुए थीं । उनके नेत्र नील-कमल के समान थे । उनका मुखमंडल केश से उद्भासित था व ताम्बूल-ग्रास उसकी शोभा बढ़ा रहा था। परम शिव के आलिंगन जनित पुलक से देवी का शरीर खिल रहा था । वह सच्चिदानन्द स्वरूपिणी उस समय साक्षात् सौन्दर्य –सार के घनीभूत विग्रह-सी दिखाई दे रही थीं ॥३१–३५॥

शिवालिङ्गनसंजातपुलकोद्भासिविग्रहाम् ।
सच्चिदानन्दरूपाढ्यां जगन्मातरमम्बिकाम् ।
सौन्दर्यसारसंदोहां ददर्श रघुनन्दनः ।। ३५ ।।
स्वस्ववाहनसंयुक्तान्नानायुधलसत्करान् ।
बृहद्रथन्तरादीनि सामानि परिगायतः ।। ३६ ।।
स्वस्वकान्तासमायुक्तान् दिक्पालान्परितः स्थितान् ।
अग्रगं गरुडारूढं शंखचक्रगदाधरम् ।। ३७ ।।
कालाम्बुदप्रतीकाशं विद्युत्कान्त्या श्रिया युतम् ।
जपन्तमेकमनसा रुद्राध्यायं जनार्दनम् ।। ३८ ।।
पश्चाच्चतुर्मुखं देवं ब्रह्माणं हंसवाहनम् ।
चतुर्वक्त्रैश्चतुर्वेदरुद्रसूक्तैर्महेश्वरम् ।
स्तुवन्तं भारतीयुक्तं दीर्घकूर्चं जटाधरम् ।। ३९ ।।
अथर्वशिरसा देवं स्तुवन्तं मुनिमण्डलम् ।
गङ्गादितटिनीयुक्तमम्बुधिं नीलविग्रहम् ।। ४० ।।

नन्दी पर आरूढ़ भगवान और भगवती को चारों ओर से घेरे हुए, अपने-अपने वाहनों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आयुधों को अपने हाथ में लिये, अपनी-अपनी देवियों के साथ बृहद्रथन्तरादि साम-गान का पाठ करते हुए दिक्पाल खड़े थे, जिनमें सबसे आगे गरुड़ारूढ़ भगवान विष्णु थे। शंख, चक्र और गदा को धारण किये वे लक्ष्मी सहित, विद्युल्लता युक्त काल-मेघ जैसे शोभा पा रहे थे। जनार्दन एकाग्र चित से रुद्राध्याय का जप कर रहे थे ॥३६–३८॥ उनके पीछे चतुर्मुख ब्रह्माजी हंस पर भारती सहित आसीन थे। वे जटा एवं लम्बी दाढ़ी से शोभित थे और चारों मुखों से चारों वेदों के रुद्र-सूक्तों द्वारा महेश्वर की स्तुति कर रहे थे ॥३९॥ इनके पास ही मुनि-मण्डल अथर्वशिरस् मन्त्रों के पाठ में तत्पर था। नील-विग्रह धारण किये समुद्र देव गङ्गादि अपनी स्त्री रूपिणी सरिताओं के साथ श्वेताश्वरोपनिषद् मन्त्रों से गिरिजापति का

श्वेताश्वतरमन्त्रेण स्तुवन्तं गिरिजापतिम् ।
अनन्तादिमहानागान्कैलासगिरिसन्निभान् ॥ ४१ ॥
कैवल्योपनिषत्पाठान्मणिरत्नविभूषितान् ।
सुवर्णवेत्रहस्ताढ्यं नन्दिनं पुरतः स्थितम् ॥ ४२ ॥
दक्षिणे मूषकारूढं गणेशं पर्वतोपमम् ।
मयूरवाहनारूढमुत्तरे षण्मुखं तथा ॥ ४३ ॥
महाकालं च चण्डेशं पार्श्वयोर्भीषणाकृतिम् ।
कालाग्निरुद्रं दूरस्थं ज्वलद्दावाग्निसन्निभम् ॥ ४४ ॥
त्रिपादं कुटिलाकारं नटद्भृङ्गिरिटिं पुनः ।
नानाविकारवदनान्कोटिशः प्रमथाधिपान् ॥ ४५ ॥

स्तवन कर रहे थे । अनन्त, कर्कोटक आदि महानाग कैलाश गिरि जैसे विशाल व शुभ्र दिखाई दे रहे थे । उनके शिरोभाग रत्न-मणियों से विभूषित थे और वे कैवल्योपनिषद् का पाठ कर रहे थे । भगवान सदा-शिव के सामने हाथ में स्वर्ण छड़ी लिये नन्दीश्वर खड़े थे ॥३९–४२॥ दाहिने भाग में पर्वत सदृश स्थूलकाय गणेश मूषकारूढ़ थे । बायीं ओर मयूर वाहन पर षण्मुख कार्तिकेय स्वामी थे । भीषणाकृति वाले महाकाल और चण्डेश पार्श्व में खड़े थे । प्रज्ज्वलित दावाग्नि के समान उग्र कान्ति वाले कालाग्नि रुद्र दूर में स्थित दृष्टि गोचर हुए ॥४३–४४॥ तीन पैरवाले कुटिलाकृति भृंगिरिटि नृत्य कर रहे थे । इन के अतिरिक्त नाना प्रकार के विकृत रूपी करोड़ों प्रमथगणाधिप दिखाई दिये ॥४५॥ ब्राह्मी आदि शक्तियों के अनुचर मातृ-मण्डल विविध वाहनों पर सवार हुए चारों तरफ से चले आ रहे थे । एक तरफ़ सिद्ध-विद्याधरादि के दिव्यगण पञ्चाक्षरी मन्त्र का बड़े प्रेम से जप कर रहे थे ॥४६॥ दूसरी ओर किन्नरों का समूह दिव्य रुद्रक गीतों का गान कर रहा था और वेद-पाठियों से त्र्यम्बक मन्त्र का उद्घोष हो रहा था ॥४७॥ नारद ऋषि आकाश-मण्डल में अपनी वीणा

नानावाहनसंयुक्तं परितो मातृमण्डलम् ।
पञ्चाक्षरीजपासक्तान् सिद्धविद्याधरादिकान् ।। ४६ ।।
दिव्यरुद्रकगीतानि गायत्किन्नरवृन्दकम् ।
तत्र त्रैयम्बकं मन्त्रं जपद्द्विजकदम्बकम् ।। ४७ ।।
गायन्तं वीणया गीतं नृत्यन्तं नारदं दिवि ।
नृत्यतो नाट्यनृत्येन रम्भादीनप्सरोगणान् ।। ४८ ।।
गायच्चित्ररथादीनां गन्धर्वाणां कदम्बकम् ।
कम्बलाश्वतरौ शंभुकर्णकुंडलतां गतौ ।। ४९ ।।
गायन्तौ पन्नगौ गीतं कपालं कम्बलं तथा ।
एवं देवसभां दृष्ट्वा कृतार्थो रघुनन्दनः ।। ५० ।।
हर्षगद्गदया वाचा स्तुवन् देवं महेश्वरम् ।
दिव्यनामसहस्रेण प्रणनाम पुनः पुनः ।। ५१ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे शिवप्रादुर्भावाख्यश्चतुर्थो ऽध्यायः ।। ४ ।।

बजाते हुए नाच भी रहे थे । रंभादि अप्सराओं का भी नाट्य-नृत्य हो रहा था ।।४८।। चित्ररथ आदि गन्धर्वों की टोली मधुर गान कर रही थी। भगवान के कानों में कम्बल एवं अश्वतर नामक नाग कुण्डल रूप से विराज रहे थे । दूसरे कपाल एवं कम्बल नामके दो सर्प सामने गान कर रहे थे । इस प्रकार की देव सभा का दर्शन कर श्रीराम कृतार्थ हो गये ।।४९–५०।। प्रेम से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया । अपने इष्टदेव महेश्वर को देखकर वे गद्-गद् वाणी से दिव्य सहस्रनामों की स्तुति करते हुये बार-बार प्रणाम करने लगे ।।५१ ।।

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में शिवप्रादुर्भाव नामक चतुर्थ अध्याय संपूर्ण हुआ ।

पंचमोऽध्यायः

सूत उवाच ।

अथ प्रादुरभूत्तत्र हिरण्मयरथो महान् ।
अनेकदिव्यरत्नांशुकिर्मीरितदिगन्तरः ।। १ ।।
नद्युपान्तिकपङ्काढ्यमहाचक्रचतुष्टयः ।
मुक्तातोरणसंयुक्तः श्वेतच्छत्रशतावृतः ।। २ ।।
शुद्धहेमखलीनाढ्यतुरङ्गगणसंयुतः ।
मुक्तावितानविलसदूर्ध्वदिव्यवृषध्वजः ।। ३ ।।
मत्तवारणिकायुक्त पट्टतल्पोपशोभितः ।
पारिजाततरूद्भूतपुष्पमालाभिरञ्चितः ।। ४ ।।

अध्याय ५

श्रीराम को वर-प्रदान

सूतजी बोले — जब श्रीराम सहस्रनाम का पाठ कर चुके थे, वहाँ एक विशाल स्वर्ण-रथ प्रकट हुआ । उसमें जटित अनेक दिव्य रत्नों से निकलने वाली किरणों के कारण सब दिशायें रंग-बिरंगी हो गईं ॥१॥ गोदावरी नदी की तट-वर्ती भूमि पर चलने से उसके चार महाचक्रों में नूतन कीचड़ का लेप विलक्षण शोभा दे रहा था । मुक्ता-तोरण से युक्त सैकड़ों श्वेत-छत्र उस रथ को आवृत कर रहे थे ॥२॥

उस में जुते हुए घोड़े सुवर्ण की लगाम से युक्त थे । रथ के ऊपर मोतियों की झालर से बना वितान तना हुआ था और उसके ऊपर वृषभांकित भगवान की ध्वजा उठी हुई थी ॥३॥ रथ के बीच में पलंग पर रेशम के गद्दे लगे हुए थे जिन पर

मृगनाभिसमुद्भूतकस्तूरिमदपङ्किलः ।
कर्पूरागरुधूपोत्थगन्धाकृष्टमधुव्रतः ॥ ५ ॥
संवर्तघनघोषाढ्यो नानावाद्यसमन्वितः ।
वीणावेणुस्वनासक्तकिन्नरीगणसंकुलः ॥ ६ ॥
एवं दृष्ट्वा रथश्रेष्ठं वृषादुत्तीर्य शंकरः ।
अम्बया सहितस्तत्र पट्टतल्पेऽविशत्तदा ॥ ७ ॥
नीराजनैः सुरस्त्रीणां श्वेतचामरचालनैः ।
दिव्यव्यजनवातैश्च प्रहृष्टो नीललोहितः ॥ ८ ॥
क्वणत्कङ्कणनिध्वानैर्मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितैः ।
वीणावेणुस्वनैर्गीतैः पूर्णमासीज्जगत्त्रयम् ॥ ९ ॥

मत्त-गजादि के चित्र अंकित थे । वह पारिजात वृक्ष के पुष्पों से अलंकृत था ॥४॥ रथ में रखे गये कस्तूरी–चन्दन, कपूर और अगरू–धूप की सुगन्धि से आकृष्ट भ्रमरों के समूह वहाँ मँडरा रहे थे ॥५॥ संवर्तक मेघ जैसी गंभीर ध्वनि वाले नाना वाद्य बज रहे थे । रथ के एक कोने में बैठे किन्नरी-गण वीणा एवं वेणु-वादन कर रहे थे ॥६॥ ऐसे उत्तम रथ को देखकर भगवान शंकर वृषभ से उतरकर आये और अम्बा सहित उस पलंग पर विराजमान हुए ॥७॥

उस समय सुराङ्गनाएँ आकर आरती उतारने लगीं और श्वेत चँवर डुलाने लगीं । दिव्य पंखों को चलाते हुए भगवान नील-लोहित के हर्ष को बढ़ाने लगीं । कंकण और नूपुरों की तथा वीणा, वेणु आदि वाद्यों की मधुर ध्वनि से सारा जगत व्याप्त हो गया ॥८–९॥ तोता, मयूर, श्वेत कबूतर आदि पक्षी–समूह के कलरव से भगवान के श्रीविग्रह को भूषित करने वाले नाना प्रकार के नागों ने उत्तेजित हो अपने फनों को फैलाया, जिन्हें देखकर सब मयूर अपने करोड़ों चन्द्रिका-युक्त पंखों को प्रदर्शित करते हुए नाचने लगे ॥१०॥

शुककेकिकुलारावैः श्वेतपारावतस्वनैः ।
उन्निद्रभूषाफणिनां दर्शनादेव बर्हिणः ।
ननृतुर्दर्शयन्तः स्वांश्चन्द्रकान्कोटिसंख्यया ॥ १० ॥
प्रणमन्तं ततो राममुत्थाप्य वृषभध्वजः ।
आनिनाय रथं दिव्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ११ ॥
कमण्डलुजलैः स्वच्छैः स्वयमाचम्य यत्नतः ।
समाचाम्याथ पुरतः स्वांके राममुपानयत् ॥ १२ ॥
अथ दिव्यं धनुस्तस्मै ददौ तूणीरमक्षयम् ।
महापाशुपतं नाम दिव्यमस्त्रं ददौ ततः ॥ १३ ॥
उक्तश्च तेन रामोऽपि सादरं चन्द्रमौलिना ।
जगन्नाशकरं रौद्रमुग्रमस्त्रमिदं नृप ॥ १४ ॥
अतो नेदं प्रयोक्तव्यं सामान्यसमरादिके ।
अन्यन्नास्ति प्रतीघातमेतस्य भुवनत्रये ॥ १५ ॥

भगवान के रथ पर विराजमान होने पर राम ने उनके पास जाकर भक्ति-पूर्वक प्रणाम किया । उनको देखकर भगवान को महान हर्ष हुआ । वे राम को उठाकर अपने दिव्य रथ में ले गये ॥११॥ शंकर ने अपने कमण्डलु के पावन जल से स्वयं आचमन किया और राम को भी आचमन कराके, बड़े प्रेम से अपनी गोद में बिठाया ॥१२॥ उसके बाद भगवान ने राम को दिव्य धनुष और अक्षय तूणीर दिया। तत्पश्चात 'पाशुपत' नामक दिव्य अस्त्र भी प्रदान किया ॥१३॥

भगवान चन्द्रमौलि आदर-पूर्वक राम से कहने लगे, राजन्! रुद्र-मूर्ति का यह जगन्नाशक अस्त्र महान उग्र है ॥१४॥ अतः सामान्य युद्ध में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए । प्रयुक्त होने पर तीनों काल में इसका कोई प्रतिघात सम्भव नहीं है ॥ १५ ॥ अतः केवल प्राण–संकट की परिस्थिति में ही

तस्मात्प्राणात्यये राम प्रयोक्तव्यमुपस्थिते ।
अन्यदैतत्प्रयुक्तं तु जगत्संक्षयकृद्भवेत् ।। १६ ।।
अथाहूय सुरश्रेष्ठान् लोकपालान् महेश्वरः ।
उवाच परमप्रीतः स्वं स्वमस्त्रं प्रयच्छत ।। १७ ।।
राघवोऽयं च तैरस्त्रै रावणं निहनिष्यति ।
तस्मै देवैरवध्यत्वमिति दत्तो वरो मया ।। १८ ।।
तस्माद्वानरतामेत्य भवन्तो युद्धदुर्मदाः ।
साहाय्यमस्य कुर्वन्तु तेन सुस्था भविष्यथ ।। १९ ।।
तदाज्ञां शिरसा गृह्य सुराः प्राञ्जलयस्तथा ।
प्रणम्य चरणौ शंभोः स्वं स्वमस्त्रं ददुर्मुदा ।। २० ।।
नारायणास्त्रं दैत्यारिरैन्द्रमस्त्रं पुरंदरः ।
ब्रह्मापि ब्रह्मदण्डास्त्रमाग्नेयास्त्रं धनंजयः ।। २१ ।।

इससे काम लेना उचित है, अन्यथा इससे जगत का विनाश हो जायेगा ।।१६।।

ऐसा कहकर महेश्वर ने लोकपालों को अपने पास बुलाकर कहा, 'राम से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ, अतः मेरी इच्छा है कि आप अपनी-अपनी अस्त्रशक्ति श्रीराम को देवें ।।१७।। इन अस्त्रों के बलसे मेरे प्रिय राघव रावण का वध करेंगे । रावण को मैंने अवध्यता का वर दिया है ।।१८।। आप रोष-पूर्ण, युद्ध—समर्थ, महान बल—सम्पन्न वानर रूप धारण करके राम की सहायता करेंगे तो रावण के संहार से आप भी स्वस्थ हो जायेंगे' ।।१९।। '

परमेश्वर की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर सभी देवगणों ने हाथ जोड़ कर भगवान शंभु के चरणों में प्रणाम किया व अपने अपने शस्त्रास्त्र राम को दे दिये ।।२०।। दैत्य संहारी विष्णु ने नारायणास्त्र, पुरन्दर ने ऐन्द्रास्त्र, ब्रह्मा ने ब्रह्मास्त्र और अग्नि देव ने आग्नेयास्त्र दिया ।।२१।। यमराज ने अपना याम्यास्त्र

याम्यं यमोऽपि मोहास्त्रं रक्षोराजस्तथा ददौ ।
वरुणो वारुणं प्रादाद् वायव्यास्त्रं प्रभञ्जनः ।। २२ ।।
कौबेरं च कुबेरोऽपि रौद्रमीशान एव च ।
सौरमस्त्रं ददौ सूर्यः सौम्यं सोमश्च पावकम् ।
विश्वेदेवा ददुस्तस्मै वसवो वासवाभिधम् ।। २३ ।।
अथ तुष्टः प्रणम्येशं रामो दशरथात्मजः ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा भक्तियुक्तो व्यजिज्ञपत् ।।२४।।

श्रीराम उवाच ।

भगवन्मानुषेणैव नोल्लङ्घ्यो लवणाम्बुधिः ।
तत्र लङ्काभिधं दुर्गं दुर्जयं देवदानवैः ।। २५ ।।
अनेककोटयस्तत्र राक्षसा बलवत्तराः ।
सर्वे स्वाध्यायनिरताः शिवभक्ता जितेन्द्रियाः ।। २६ ।।

दिया। नैऋति, वरुण और वायु ने क्रमशः अपने मोहास्त्र, वारुणास्त्र और वायव्यास्त्र दिये ।।२२।। श्रीराम को कुबेर, ईशान, सूर्य, सोम, विश्वेदेव और वसुओं से क्रमशः कौबेर, रौद्र, सौर, सौम्य, पावक और वासव नाम के प्रसिद्ध अस्त्र प्राप्त हुए ।।२३।।

तत्पश्चात दशरथकुमार राम, सन्तुष्ट होकर महेश को प्रणाम करके, अंजलि बाँध के विनय एवं भक्ति पूर्वक विनती करने लगे ।। २४ ।।

श्रीरामने कहा — भगवन्! खारे जल वाले सागर को पार करना मनुष्य के लिये निषिद्ध ही बताया है । रावण की लंकापुरी समुद्र के बीच में स्थित है । वहां जाना ही कठिन है । जाकर उसे जीतना तो देव–दानवों को भी दुर्लभ है ।। २५ ।। लंका में करोड़ों श्रेष्ठ बलवान राक्षस रहते हैं । वे सबके सब नित्य स्वाध्याय एवं शिवाराधन में निरत हैं । इन्द्रियों को जीतकर वे कठोर तपस्या करते हैं। और अग्निहोत्रादि कर्म में भी

अनेकमायासंयुक्ता बुद्धिमन्तोऽग्निहोत्रिणः ।
कथमेकाकिना जेया मया भ्रात्रा च संयुगे ॥ २७ ॥

श्रीशिव उवाच ।

रावणस्य वधे राम रक्षसामपि मारणे ।
विचारो न त्वया कार्यस्तस्य कालोऽयमागतः ॥ २८ ॥
अधर्मे तु प्रवृत्तास्ते देवब्राह्मणपीडने ।
तस्मादायुःक्षयं यातं तेषां श्रीरपि सुव्रत ॥ २९ ॥
राजस्त्रीलंघनासक्तं रावणं निहनिष्यसि ।
पापासक्तो रिपुर्जंतुः सुकरः समराङ्गणे ॥ ३० ॥
अधर्मे निरतः शत्रुर्भाग्येनैव हि लभ्यते ।
अधीतधर्मशास्त्रोऽपि सदा वेदरतोऽपि वा ।
विनाशकाले संप्राप्ते धर्ममार्गाच्च्युतो भवेत् ॥ ३१ ॥

निपुण हैं ॥ २६ ॥ वे नाना प्रकार की माया शक्तियों से सम्पन्न हैं और बुद्धिमान भी हैं । मैं अकेले अपने भाईके साथ उन राक्षसों को युद्ध में किस प्रकार परास्त कर सकूँगा ? कृपया आप मेरे संशय का निवारण करें ॥ २७ ॥

श्रीशिव ने कहा — हे राम ! राक्षसों सहित रावण का वध करने में संशयात्मक विचार करने की आवश्यता नहीं है, क्यों कि रावणका मरण काल आ गया है ॥ २८ ॥ उसके अनुचर राक्षस, देव-ब्राह्मणों को पीड़ित करते हुए अधर्म में प्रवृत्त हैं, अतः उनकी आयु और ऐश्वर्य क्षयोन्मुखी हैं । स्वधर्मानुकूल व्रत धारण करनेवाले राम जी ! राजा की स्त्री को अपमानित करने में निरत रावण निश्चित रूप से तुम्हारे द्वारा मारा जायगा । पापी व दुराग्रही शत्रु को समराङ्गण में जीतना सरल है ॥ २९-३० ॥ अधर्म में निरत शत्रु तो भाग्य से ही मिलता है । चाहे उसने सारे धर्म शास्त्रों का अध्ययन किया हो

पीडयन्ते देवताः सर्वाः सततं येन पापिना ।
ब्राह्मणा ऋषयश्चैव तस्य नाशः स्वयं स्थितः ।। ३२ ।।
किष्किधानगरे राम देवानामंशसंभवाः ।
वानरा बहवो जाता दुर्जया बलवत्तराः ।। ३३ ।।
साहाय्यं ते करिष्यंति तैर्बधान च पयोनिधिम् ।
अनेकशैलसंबद्धे सेतौ यान्तु वलीमुखाः ।। ३४ ।।
रावणं सगणं हत्वा तामानय निजां प्रियाम् ।
शस्त्रैर्युद्धे जयो यत्र तत्रास्त्राणि न योजयेत् ।। ३५ ।।
निरस्त्रेष्वल्पशस्त्रेषु पलायनपरेषु च ।
अस्त्राणि मुञ्चन् दिव्यानि स्वयमेव विनश्यति ।।३६।।
अथवा किं बहूक्तेन मयैवोत्पादितं जगत् ।
मयैव पाल्यते नित्यं मया संह्रियतेऽपि च ।। ३७ ।।

और नित्य वेद का पाठ करता हो परंतु विनाश काल के उपस्थित होने पर उस योग की प्रबलता के कारण धर्म-मार्ग से च्युत हो जाता है ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण, ऋषि एवं देवता सब जिस पापी रावण के अत्याचारों से नित्य-निरन्तर दुःखी हैं, उसका विनाश अपने आप आ गया है ॥ ३२ ॥

हे राम ! देव अंश से बहुत से बलवान दुर्जेय वानर किष्किन्धा नगरमें प्रकट हुए हैं ॥ ३३ ॥ उनकी सहायता से तुम सागर पर पुल बनवाना । अनेक शैलों से निर्मित उस सेतु के ऊपर से वानर सेना को लंका में ले जाना और युद्ध में रावण का दल सहित हनन करके अपनी प्रिय पत्नी सीता को वापस ले आना ।

युद्ध में जहाँ (हाथ में धारण किये) शस्त्रों से जय संभव हो, वहाँ (दूर तक फेंकने योग्य) अस्त्रों का प्रयोग न करना ॥ ३४-३५ ॥ जिसके पास अस्त्र नहीं हों, अपर्याप्त शस्त्र हो या जो युद्ध से भाग रहा हो ऐसे शत्रु पर दिव्य अस्त्रों को छोड़ने वाला वीर स्वयं नष्ट

अहमेको जगन्मृत्युर्मृत्योरपि महीपते ।
ग्रसेऽहमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ।। ३८ ।।
मम वक्त्रगताः सर्वे राक्षसा युद्धदुर्मदाः ।
निमित्तमात्रं त्वं भूयाः कीर्तिमाप्स्यसि संगरे ।। ३९ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे रामाय वरप्रदानं नाम पञ्चमोध्यायः ।। ५ ।।

हो जाता है । अतः तुम कभी भी युद्ध में ऐसा आचरण न करना ।। ३६ ।।

राम ! अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, तुम यह सत्य जानना कि सारा जगत मेरे से ही उत्पन्न होता है, मैं ही इसका पालक हूँ और अन्तिम समय में संहारक हूँ । राजन् ! जगत की मृत्यु मैं ही हूँ और केवल मैं ही मृत्यु की भी मृत्यु बनकर सकल चराचर को ग्रसित करता हूँ ।। ३७–३८ ।।

अतः विजय की आकांक्षा से युद्ध के लिये उत्सुक मद-मत्त राक्षस सब के सब मेरे ही मुखमें प्रविष्ट हो रहे हैं। उनके विनाश के लिये निमित्त मात्र बन जाना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है । इससे संग्राम में तुम कीर्ति को प्राप्त करोगे ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघव संवाद रूप ब्रह्म विद्या एवं योग प्रतिपादक शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में रामवरप्रदान नामक पंचम अध्याय संपूर्ण हुआ ।

षष्ठोऽध्यायः

श्रीराम उवाच ।

भगवन्नत्र मे चित्रं महदेतत् प्रजायते ।
शुद्धस्फटिकसंकाशस्त्रिनेत्रश्चन्द्रशेखरः ॥ १ ॥
मूर्तस्त्वं तु परिच्छिन्नाकृतिः पुरुषरूपधृक् ।
अम्बया सहितोऽत्रैव रमसे प्रमथैः सह ॥ २ ॥
त्वं कथं पञ्चभूतादिजगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रूहि गिरिजाकान्त मयि तेऽनुग्रहो यदि ॥ ३ ॥

श्रीशिव उवाच ।

साधु पृष्टं महाभाग दुर्ज्ञेयममरैरपि ।
तत्प्रवक्ष्यामि ते भक्त्या ब्रह्मचर्येण सुव्रत ।
पारं यास्यस्यनायासाद् येन संसारनीरधेः ॥ ४ ॥

अध्याय ६
विभूति योग

श्रीराम ने कहा — भगवन्! आपने जो कहा इस विषय में मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। चन्द्र को जटा में धारण किये आप की शुद्ध स्फटिकवत् मूर्ति मेरे सामने परिच्छिन्न दृष्टिगोचर हो रही है। पुरुषाकृति वाले आप इस देश में अम्बिका सहित अपने प्रमथ गणों के संग विहार कर रहे हैं ॥१–२॥ आप किस प्रकार पञ्च महाभूतात्मक चराचर जगत के जन्म, स्थिति और लय स्थान हो सकते हैं? यह मेरी समझ में नहीं आता है। हे गिरिजा कान्त! यदि आपका मुझ पर अनुग्रह है तो यह स्पष्ट करें ॥३॥

दृश्यन्ते पञ्च भूतानि येच लोकाश्चतुर्दश ।
समुद्राः सरितो देवा राक्षसा ऋषयस्तथा ॥ ५ ॥
दृश्यन्ते यानि चान्यानि स्थावराणि चराणि च ।
गन्धर्वाः प्रमथा नागाः सर्वे ते मद्विभूतयः ॥ ६ ॥
पुरा ब्रह्मादयो देवा द्रष्टुकामा ममाकृतिम् ।
मंदरं प्रययुः सर्वे मम प्रियतरं गिरिम् ॥ ७ ॥
स्तुत्वा प्राञ्जलयो देवा मां तदा पुरतः स्थिताः ।
तान्दृष्ट्वाथ मया देवान् लीलाकुलितचेतसः ।
तेषामपहृतं ज्ञानं ब्रह्मादीनां दिवौकसाम् ॥ ८ ॥
अथ तेऽपहृतज्ञाना मामाहुः को भवानिति ।
अथाब्रुवमहं देवानहमेव पुरातनः ॥ ९ ॥

श्रीशिव ने कहा — महाभाग! तुमने जो प्रश्न किया है वह कल्याण-प्रद और सुन्दर है। यह विषय देवताओं के लिये भी दुर्बोध्य है। सुव्रत! तुम्हारी भक्ति और शिष्य भाव से प्रसन्न होकर मैं तुम्हें वह बताता हूँ। इसके परिज्ञान से तुम अनायास ही संसार सागर को पार कर लोगे ॥४॥

दृश्यमान पञ्चमहाभूत, उनसे बने चौदह भुवन, उनके अन्दर समुद्र, सरिता तथा देव, राक्षस, ऋषि, गन्धर्व, प्रमथ, मनुष्य नागादि जंगम प्राणी एवं अन्यान्य वृक्ष पर्वतादि स्थावर ये सब मेरी ही विभूति हैं ॥५–६॥

प्राचीन काल में एक बार ब्रह्मादि देवगण मेरे श्रीविग्रह के दर्शन की कामना से मेरे प्रिय निवास स्थान मंदराचल पर आये ॥७॥ वे देवगण मेरी स्तुति करके हाथ जोड़कर मेरे समक्ष खड़े हो गये। उन्हें देखकर लीलावश उत्सुक मैंने संकल्प मात्र से उन ब्रह्मादि देव समूह की ज्ञान-शक्ति को कुण्ठित कर दिया ॥८॥

आसं प्रथममेवाहं वर्तामि च सुरेश्वराः ।
भविष्यामि च लोकेऽस्मिन् मत्तो नान्योऽस्ति कश्चन ।१०।
व्यतिरिक्तं च मत्तोऽस्ति नान्यत् किञ्चित् सुरेश्वराः ।
नित्योऽनित्योऽहमनघो ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पतिः ।। ११ ।।
दक्षिणाञ्च उदञ्चोऽहं प्राञ्चः प्रत्यञ्च एव च ।
अधश्चोर्ध्वं च विदिशो दिशश्चाहं सुरेश्वराः ।।१२।।
सावित्री चापि गायत्री स्त्री पुमानपुमानपि ।
त्रिष्टुबजगत्यनुष्टुप् च पंक्तिश्छन्दस्त्रयीमयः ।। १३ ।।

इस प्रकार अपहृत ज्ञानवाले, मुझे पहचानने में असमर्थ हो मुझे ही पूछने लगे कि आप कौन हो? इस प्रश्न को सुनकर मैंने देवों को उत्तर दिया :– हे श्रेष्ठ देवगण! मैं ही वह पुरातन तत्त्व हूँ जो सृष्टि से पूर्व भी था, वर्त्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। इस लोक में मेरे सिवा अन्य अलग सत्ता वाला कुछ भी नहीं है ॥९–१०॥ अति सूक्ष्म होने से इस बात को मैं पुनः दुहराता हूँ। मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है अर्थात् मेरी सत्ता से ही सारा जगत व्याप्त है। (जैसे रज्जु सत्ता से उस में भ्रान्ति के कारण प्रतीत होनेवाले सर्प, दण्ड, जलधारा, माला आदि व्याप्त होती है।) आधार रूप से मैं नित्य हूँ और आधेय भाव से अनित्य हूँ। अविद्या–दोष–रहित मैं ही वेदों का और वेद प्रवर्तक ब्रह्मा का भी स्वामी हूँ ॥११॥ उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम ये चार दिशायें और इनके बीच की विदिशायें ऊपर और नीचे के देश सभी मुझ में ही स्थित हैं ॥१२॥ सावित्री, गायत्री, सरस्वती आदि मन्त्र भेद, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि शरीर भेद, त्रिष्टुप्, जगति, अनुष्टुप्, पंक्ति आदि वैदिक छन्दों के भेद — इन सब भेद रूपों में मैं ही एक अभिन्न परिणत होता हूँ ॥१३॥ मैं सत्य स्वरूप हूँ, सर्वत्र गमन करनेवाला या सब को जाननेवाला चैतन्य रूप हूँ, सर्व व्यवहार में क्षोभ रहित साक्षी हूँ।

सत्योऽहं सर्वगः शान्तस्त्रेताग्निर्गौरवं गुरुः ।
गौरहं गह्वरं चाहं द्यौरहं जगतां विभुः ।। १४ ।।
ज्येष्ठः सर्वसुरश्रेष्ठो वर्षिष्ठोऽहमपांपतिः ।
आर्योऽहं भगवानीशस्तेजोऽहं चादिरप्यहम् ।। १५ ।।
ऋग्वेदोऽहं यजुर्वेदः सामवेदोऽहमात्मभूः ।
अथर्वणश्च मन्त्रोऽहं तथा चाङ्गिरसो वरः ।। १६ ।।
इतिहासपुराणानि कल्पोऽहं कल्पवानहम् ।
नाराशंसी च गाथाहं विद्योपनिषदोऽस्म्यहम् ।। १७।।

आहवनीय आदि वैदिक कर्माग्नि रूप से मैं प्रकट हूँ । मानव जीवन का गौरव मैं हूँ । मैं ही काल से अनवच्छिन्न होकर सबका उपदेशक गुरु हूँ । गुरु जिससे उपदेश देते हैं वह वाणी भी मेरा ही रूप है । उस वाणी से प्रकट होनेवाला रहस्य भी मैं ही हूँ । द्युः आदि लोक और उनका स्वामी भी मैं ही हूँ ।।१४।।

सबसे पहले प्रकट होने से ज्येष्ठ, सभी देवों में श्रेष्ठ, सबसे वृद्ध, समस्त कर्मों का अधीश्वर, पूज्यतम, समस्त ऐश्वर्यादि षड्गुणों से युक्त, सर्व समर्थ, तेजस्वियों का तेज स्वरूप और सब का कारण मैं हूँ ।।१५।।

मैं स्वयं ऋक्, यजुः, साम और अथर्वांगिरस मन्त्रराशि वेद-रूप से उद्भूत हूँ ।।१६।। भारतादि इतिहास, भागवतादि पुराण मेरे स्वरूप का प्रतिपादन करने से मेरे ही रूप हैं । कल्पशास्त्र एवं उनके प्रणेता बोधायनादि भी मेरे ही स्वरूप हैं । ऋषि, राजा आदि नरों की एवं यज्ञों की प्रशंसा विषयक, उपासना प्रतिपादक और ब्रह्म-विद्या उपदेशक सारे मन्त्र मेरी विभूति हैं ।।१७।।

छन्दोबद्ध श्लोक, ऋषि-निर्मित सूत्र, उनके ऊपर लिखे गये व्याख्यान और अनुव्याख्यान, गान्धर्वादि विद्या, याग, होम, होम-द्रव्य, दान–प्रतिग्रह, इहलोक–परलोक रूपी कर्मफल, लोकातीत

श्लोकाः सूत्राणि चैवाहमनुव्याख्यानमेव च ।
व्याख्यानानि तथा विद्या इष्टं हुतमथाहुतिः ॥१८॥
दत्तादत्तमयं लोकः परलोकोहमक्षरः ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि दान्तिः शान्तिरहं खगः ॥१९॥
गुह्योहं सर्ववेदेषु आरण्योहमजोप्यहम् ।
पुष्करं च पवित्रं च मध्यं चाहमतः परम् ॥ २० ॥
बहिश्चाहं तथा चांतः पुरस्तादहमव्ययः ।
ज्योतिश्चाहं तमश्चाहं तन्मात्राणीन्द्रियाण्यहम् ॥२१॥
बुद्धिश्चाहमहंकारो विषयाण्यहमेव हि ।
ब्रह्मा विष्णुर्महेशोऽहमुमा स्कन्दो विनायकः ॥ २२ ॥

अक्षर, लोकमय क्षर, इन्द्रिय–मनोनिग्रह रूप साधनाएँ, ये सभी मेरे से ही प्रकट हुए हैं। सारे वेदों में मैं पक्षी (सुपर्ण या खग) नाम से प्रसिद्ध हूँ। मेरा स्वरूप गूढ़ है। संसार रूप अरण्य में मैं छिपा हुआ हूँ। मेरा जन्म कभी होता नहीं। ब्रह्माण्ड के अन्तःपाती पुष्कर आदि सात खंड में हूँ (या पुष्कर आदि तीर्थ स्वरूप हूँ), मैं सबको पवित्र करता हूँ; ब्रह्माण्ड का केन्द्र भी मैं हूँ और ब्रह्माण्ड से अतीत परतत्त्व भी मैं हूँ ॥१८–२०॥ बाहर, भीतर, सामने, (पीछे, सर्वत्र) मेरा नाश रहित सत्ता स्वरूप ही है। शब्दादि पञ्च तन्मात्राएँ, उनको विषय करनेवाली बुद्धि, अहंकारादि अन्तरिन्द्रिय मेरे ही रूप हैं। इस प्रकार विषय रूप से बाहर और द्रष्टा रूप से अन्दर व्याप्त हूँ। सबके सामने इदं रूपसे दिखाई देते हुए भी मैं नाशवान दृश्य नहीं हूँ। ज्योति, तम आदि भी मुझमें ही कल्पित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, उमा, स्कन्द, विनायक, इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान आदि देवता, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं नाम वाले भुवन, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश — ये पञ्च महाभूत,

इन्द्रोग्निश्च यमश्चाहं निर्ऋतिर्वरुणोनिलः ।
कुबेरोहं तथेशानो भूर्भुवः स्वर्महर्जनः ॥ २३ ॥
तपः सत्यं च पृथिवी चापस्तेजोनिलोप्यहम् ।
आकाशोहं रविः सोमो नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥२४॥
प्राणः कालस्तथा मृत्युरमृतं भूतमप्यहम् ।
भव्यं भविष्यत्कृत्स्नं च विश्वं सर्वात्मकोप्यहम् ॥२५॥
ओमादौ च तथा मध्ये भूर्भुवः स्वस्तथैव च ।
ततोऽहं विश्वरूपोऽस्मि शीर्षं च जपतां सदा ॥२६॥
अशितं पायितं चाहं कृतं चाकृतमप्यहम् ।
परं चैवापरं चाहमहं सर्वपरायणः ॥ २७ ॥
अहं जगद्धितं दिव्यमक्षरं सूक्ष्ममप्यहम् ।
प्राजापत्यं पवित्रं च सौम्यमग्राह्यमग्रियम् ॥ २८ ॥

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह आदि दिव्य ज्योति, प्राण, काल, मृत्यु-अमृत, भूत–भविष्य के अन्तर्गत सारा विश्व — इन सब में मैं ही तादात्म्य भाव से विद्यमान हूँ ॥२१–२५॥

सर्व प्रथम ओंकार, फिर भूः-भुवः-स्वः ये तीन व्याहृतियाँ, तदनन्तर सवितुर्वरेण्यं आदि गायत्री एवं अन्त में शीर्षभूत आपो ज्योतिर् आदि शब्दों सहित मन्त्र मेरी विशेष विभूति है। इस का निरन्तर जप करने वालों के लिये मैं विश्व रूप हूँ ॥२६॥ अन्न–पान, कृत-अकृत, उत्कृष्ट-निकृष्ट इन सब के रूप में सब व्यवहार का आश्रय मैं हूँ ॥२७॥

सबसे आगे जानेवाला अग्निदेव और उससे सिद्ध होनेवाले प्रजापति, सोम आदि देव–निमित्तक यज्ञ मेरे रूप हैं। ग्राह्य कर्म से विपरीत ज्ञान–स्वरूप अग्राह्य भी मेरा रूप है। कर्म रूप से मैं जगत का हित करता हूँ। मेरे दिव्य, अक्षर और सूक्ष्म रूप से जगत का धारण होता है। फिर मैं ही ज्ञान

अहमेवोपसंहर्ता महाग्रासौजसां निधिः ।
हृदि यो देवतात्वेन प्राणत्वेन प्रतिष्ठितः ॥ २९ ॥
शिरश्चोत्तरतो यस्य पादौ दक्षिणतस्तथा ।
यश्च सर्वान्तरः साक्षादोङ्कारोऽहं त्रिमात्रकः ॥३०॥
ऊर्ध्वं चोन्नामये यस्मादधश्चापनयाम्यहम् ।
तस्मादोङ्कार एवाहमेको नित्यः सनातनः ॥ ३१ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि यो ब्रह्मा यज्ञकर्मणि ।
प्रणामये ब्राह्मणेभ्यस्तेनाहं प्रणवो मतः ॥ ३२ ॥

रूप से जगत का उपसंहार भी बनता हूँ । संहार काल में समस्त ब्रह्माण्ड को एक ग्रास में कवलित करनेवाली महान तेजोराशि रूप में स्थित होता हूँ । वही मैं प्राणियों के हृदय में अन्तरात्मा एवं प्राणात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हूँ ॥२८-२९॥

अ, उ, म, — तीन मात्रात्मक ओंकार मेरा साक्षात् विग्रह है । अकारादि स्वर एवं सुवर्लोक इसका शिरोभाग है, श-वर्ग और 'ह' एवं भूर्लोक इसके पाद हैं, बीच के सारे व्यंजन एवं भुवर् लोक इसका मध्य भाग है — इस प्रकार ओंकार को सर्वाक्षरमय एवं सर्वलोकमय जानना चाहिये ॥३०॥ ऊर्ध्वंकर और अधःकर दोनों को लेकर ओंकार नाम पड़ा है, क्यों कि यह अपने उपासकों को पुण्यसंचय द्वारा ऊपर के पुण्य लोकों में लेजाता है और पुण्यक्षय होने के बाद वैराग्य के द्वारा ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करने के लिये नीचे मनुष्य लोकों में लेजाता है । अतः नित्य सनातन मैं ही ओंकार का वाच्य हूँ ॥३१॥

मुझे प्रणव भी कहते हैं, क्यों कि 'प्रकर्षेण+नयति' – श्रेष्ठ रूप से मैं ऋक्, यजुः एवं साम मन्त्रों को यज्ञकर्म में ब्रह्मा बनकर तत्-तत् ब्राह्मण ऋत्विजों के पास पहुँचाता हूँ ॥३२॥

माँस-पिण्ड शरीर में चर्बी आदि तैजस रस जिस प्रकार ओत-प्रोत रहता है उसी प्रकार समस्त लोकों को व्याप्त करके

स्नेहो यथा मांसपिण्डं व्याप्नोति व्यापयत्यपि ।
सर्वान् लोकानहं तद्वत् सर्वव्यापी ततोस्म्यहम् ।।३३।।

ब्रह्मा हरिश्च भगवानाद्यन्तं नोपलब्धवान् ।
ततोऽन्ये च सुरा यस्मादनन्तोऽहमितीरितः ।। ३४ ।।

गर्भजन्मजरामृत्युसंसारभवसागरात् ।
तारयामि यतो भक्तं तस्मात् तारोऽहमीरितः ।।३५।।

चतुर्विधेषु देहेषु जीवत्वेन वसाम्यहम् ।
सूक्ष्मो भूत्वा च हृद्देशे यत् तत् सूक्ष्मः प्रकीर्तितः ।।३६।।

महातमसि मग्नेभ्यो भक्तेभ्यो यत्प्रकाशये ।
विद्युद्वदतुलं रूपं तस्माद्वैद्युतमस्म्यहम् ।। ३७ ।।

एक एव यतो लोकान् विसृजामि सृजामि च ।
विवासयामि गृह्णामि तस्मादेकोहमीश्वरः ।। ३८ ।।

उन्हें मैं जीवित रखता हूँ ।।३३।। ब्रह्मा, भगवान हरि एवं अन्यान्य देवगण भी मेरे आदि और अन्त का पता लगाने में असमर्थ हुए हैं । अतः मुझे अनन्त नाम से पुकारते हैं ।।३४।।

क्यों कि मैं अपने भक्त को गर्भवास–जन्म–जरा–मृत्यु आदि दुःख रूपी संसार सागर से पार कर देता हूँ इसलिये मेरा नाम 'तार' भी है ।।३५।। सूक्ष्म रूप से जीव बनकर मैं चार प्रकार के शरीरों के हृदय देश में निवास करता हूँ, अतः मुझे 'सूक्ष्म' कहते हैं ।।३६।।

अज्ञान रूपी महान अन्धकार में निमग्न अपने उपासकों के लिये बिजली की तरह अत्यन्त प्रकाशमय और सकृत्–विभात स्वरूप प्रकट करने से 'वैद्युत' कहलाता हूँ ।।३७।।

ईश्वर होने से अकेले ही किसी उपाय या उपादान की अपेक्षा रखे बिना ही लोकों को उत्पन्न कर जीवों को उसमें

न द्वितीयो यतस्तस्थे तुरीयं ब्रह्म यत्स्वयम् ।
भूतान्यात्मनि संहृत्य चैको रुद्रो वसाम्यहम् ।। ३९ ।।
सर्वांल्लोकान्यदीशेहमीशिनीभिश्च शक्तिभिः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशं चक्षुरीश्वरम् ।। ४० ।।
ईशानश्चास्मि जगतां सर्वेषामपि सर्वदा ।
ईशानः सर्वविद्यानां यदीशानस्ततोस्म्यहम् ।। ४१ ।।
सर्वभावान्निरीक्षेऽहमात्मज्ञानं निरीक्षये ।
योगं च गमये तस्माद् भगवान्महतो मतः ।। ४२ ।।
अजस्रं यच्च गृह्णामि विसृजामि सृजामि च ।
सर्वांल्लोकान्वासयामि तेनाहं वै महेश्वरः ।। ४३ ।।

बसाता हूँ । अपनी निग्रह शक्ति से उनको लोक से लोकान्तर में ले जाकर घुमाता रहता हूँ और अन्त में अनुग्रह शक्ति से कृपापूर्वक संसार से मुक्त कर देता हूँ ।।३८।।

मैं तुरीय ब्रह्म हूँ जिसके सिवा द्वितीय और कोई नहीं है । भूतों को अपने अन्दर संहृत कर लेने पर मैं रुद्र अकेला रह जाता हूँ ।। ३९ ।। श्रुतियों में मैं ईशान नाम से प्रसिद्ध हूँ, क्यों कि जगत के सभी तत्त्वों को सर्वदा अपने वश में रखते हुए अपनी ईशिनी शक्तियों के द्वारा जगत का शासन करता हूँ । सारी विद्याओं का मैं अधीश्वर हूँ ।। ४०–४१ ।।

सबका द्रष्टा एवं सबका अभिव्यञ्जक चक्षुस्थानीय होकर त्रिकालस्थ सब भावों का निरीक्षण करता हूँ । महात्मा पुरुषों को योग मार्गमें लेजाकर आत्म-ज्ञान-प्रकाशक हूँ। इसलिये मैं भगवान हूँ ।। ४२ ।।

निरन्तर अपने पञ्चकृत्य लोक–व्यापार को करते हुए जो मेरा महेश्वर भाव सिद्ध होता है उसके एक अंश मात्र के आभास से ही ब्रह्मादि देव ज्ञान–योग–ऐश्वर्य की महिमा से सम्पन्न होकर जगत का सृजन–पालनादि कार्यों का निर्वाह करते हैं। अतः मैं महादेव हूँ ।। ४३–४४ ।।

महत्स्वात्मज्ञानयोगैश्वर्यं यस्तु महीयते ।
सर्वान् भावान् महादेवः सृजत्यवति सोस्म्यहम् ।।४४।।

एषोस्मि देवः प्रदिशो नु सर्वाः
पूर्वो हि जातोस्म्यहमेव गर्भे ।
अहं हि जातश्च जनिष्यमाणः
प्रत्यग्जनास्तिष्ठतिसर्वतोमुखः ।। ४५ ।।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्-
द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ।।४६।।

(तत्पश्चात श्वेताश्वतर आदि श्रुतियों के अन्दर वर्णित अपनी महिमा का प्रायः उन्हीं श्रुतियों के शब्दों को अपनाते हुए देवों के अन्दर प्रामाणिक बुद्धि उत्पन्न करने की इच्छा से मैंने फिर से कहा) सबके सामने दिव्य रूप से दिखाई देनेवाला मैं ही प्रत्येक दिशा में व्याप्त हूँ। प्रकृति के गर्भ से मैं अपने आप ही उत्पन्न हुआ हूँ । जात एवं जनिष्यमान सब मैं ही हूँ, मैं विराट हूँ ॥४५॥ मैं सर्व-नेत्र, सर्व-मुख, सर्व-बाहु और सर्व-पाद हूँ । मुझ कालात्मा के पादक्रमविन्यास मात्र से (अर्थात् काल-प्रवाह परिणाम में अनायास ही) द्युलोक और भूलोक उत्पन्न होते हैं । फिर धर्म-अधर्म रूपी अपनी उभय भुजाओं के संचालन से मैं इन लोकों को प्रवृद्ध करता रहता हूँ जैसे लुहार धौंकनी से आग को प्रज्वलित करता है ॥४६॥

हृदयाकाश के बीच में वालाग्रभाग जैसे सुसूक्ष्म, सुन्दर कान्ति वाली अग्निशिखा के रूप में सर्वान्तर्यामी मैं विद्यमान हूँ । बुद्धि के द्वारा अहंवृत्ति को जड़ांश रहित करके शुद्ध रूप से वहाँ

वालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये
विश्वं देवं जातवेदं वरेण्यम् ।
मामात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। ४७ ।।

अहं योनिं योनिमधितिष्ठामि चैको
मयेदं पूर्ण पञ्चविधं च सर्वम् ।
मामीशानं पुरुषं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ।। ४८ ।।

प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुर्-
यस्मिन्नशनाया च तृष्णाऽक्षमा च ।
तृष्णां हित्वा हेतुजालस्य मूलं
बुद्धया चित्तं स्थापयित्वा मयीह।
एवं ये मां ध्यायमाना भजंते
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। ४९ ।।

स्थित मुझ चैतन्य मात्र को जो धीर-पुरुष देखते हैं वे ही शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं ।।४७।।

हर योनि में मेरा अखण्ड एवं चैतन्य स्वरूप ही अधिष्ठित है । उसी से पाँच प्रकार का यह प्रपञ्च भरा हुआ है । ईश्वर–चैतन्य एवं जीव–चैतन्य दोनों का लक्षणा से शोधन करके परमाराध्य अखण्ड–चैतन्य को जान लेने पर प्रपंचोपशम लक्षण वाले मेरे शिव-स्वरूप की प्राप्ति होती है । ।।४८।।

प्राणों का धर्म भूख-प्यास है, मन के धर्म तृष्णा–रूप काम एवं अक्षमा–रूप क्रोध हैं । इन को ही विद्वान पुरुष दुःखमय संसार का लक्षण मानते हैं । इन्हीं के कारण शुभाशुभ फल के भोग जाल में जीव उलझ जाता है । इस भोग जाल के हेतुभूत धर्माधर्म के प्रति मूल कारण तृष्णा ही है । अतः इस तृष्णा का

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्म मां ज्ञात्वा न बिभेति कुतश्चन ।।५०।।
श्रुत्वेति देवा मद्वाक्यं कैवल्यज्ञानमुत्तमम् ।
जपन्तो मम नामानि मम ध्यानपरायणाः ।। ५१ ।।
सर्वे ते स्वस्वदेहान्ते मत्सायुज्यं गताः पुरा ।
ततो ये परिदृश्यन्ते पदार्था मद्विभूतयः ।। ५२ ।।
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।। ५३ ।।

छेदन कर के चित्त को अध्यात्म बुद्धि द्वरा नियन्त्रित क़रते हुए, ध्यान योग से जो मेरा भजन करते हैं वे ही शाश्वत शान्ति के भागी होते हैं, अन्य कोई नहीं ।।४९।।

जिसको विषय करने के प्रयत्न में वाणी और मन दोनों असमर्थता के कारण कुण्ठित गति वाले होकर निवृत्त हो जाते हैं ऐसे आनन्द–घन–परब्रह्म को ही मेरा स्वरूप जानकर दृढ़ ज्ञानी किसी के भी कारण से भय को प्राप्त नहीं होता है ।।५०।।

उत्तम कैवल्य मुक्ति के साधनभूत ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने वाले इस वचन को सुनकर देवता सन्तुष्ट हुए और मेरे दिव्य नामों का जप करते हुए अपने अपने स्थान को लौट कर मेरे ध्यान में निरत हो गये ।।५१।।

इसके फल-स्वरूप, उस कल्प में देव योनि समाप्त होने पर वे सभी शिव-सायुज्य को प्राप्त हुए । उनको हमने जो उपदेश दिया था उसका सार तुम यह समझ लो कि दृश्यमान सभी पदार्थ सर्वत्र मेरी ही विभूति हैं ।।५२।।

(अपने अत्यन्त प्रिय कैवल्योपनिषद् के मन्त्रों के अर्थ से मैं पुनः इस ज्ञान को तुम्हारे अन्दर दृढ़ करता हूँ ।) सारा जगत मुझ से ही उत्पन्न हुआ है, मुझ में ही प्रतिष्ठित है और मुझ में ही समा जायेगा । अतः उपनिषद् लक्षित ब्रह्म मैं ही हूँ ।।५३।।

अणोरणीयानहमेव तद्वन्
महानहं विश्वमहं विशुद्धः ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो
हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥ ५४ ॥
अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः
पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो
न चास्ति वेत्ता मम चित् सदाहम् ॥ ५५ ॥
वेदैरशेषैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो
न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥ ५६ ॥

मैं सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हूँ और महान से भी महत्तर । सारा विश्व मेरा ही रूप है पर मैं विश्व के विकारों से अलिप्त, विशुद्ध हूँ । मैं पुरातन पुरुष, हिरण्मय, ईश्वर और शिव-रूप हूँ ॥५४॥ पाणि-पादादि कर्मेन्द्रिय और चक्षु–श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से रहित होकर भी मैं अपनी अचिन्त्य माया शक्ति के द्वारा ग्रहण, गमन, दर्शन, श्रवणादि क्रियाओं की सिद्धि करता हूँ । माया-परिणाम के विविध रूपों का मैं विज्ञाता हूँ, पर माया के वशीभूत कोई भी मेरे स्वरूप को नहीं पहचान पाता । सदा 'चित्' स्वरूप होने से मैं कभी भी ज्ञेय नहीं बन सकता ॥५५॥ मेरा यह स्वरूप सकल वेद मन्त्रों द्वारा प्रतिपाद्य है । वेदान्त सिद्धान्त का निर्माता जगद्गुरु मैं हूँ । वेदान्त अर्थ को जानने वाला ज्ञानी पुरुष मेरा ही रूप हो जाता है । मुझे पाप–पुण्य छू नहीं सकते। न मेरा नाश होता है, न जन्म ही। क्योंकि देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि उपाधियों से मैं रहित हूँ॥५६॥ भूमि, जल, अग्नि, वायु,

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति
न चानिलो मेऽस्ति न मे नभश्च ।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं
गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।
समस्तसाक्षि सदसद्विहीनं
प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥ ५७ ॥
एवं मां तत्त्वतो वेत्ति यस्तु राम महामते ।
स एव नान्यो लोकेषु कैवल्यफलमश्नुते ॥ ५८ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघव संवादे विभूतियोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

और आकाश आदि का मुझ में तीन काल में भी अध्यास नहीं है । इस प्रकार अपनी हृदय-गुहा में निहित निष्कल अद्वितीय, सबका साक्षी, सद्–असद् कोटियों से रहित परमात्म स्वरूप का अहं रूप से साक्षात्कार करके साधक स्वयं भी शुद्ध परमात्म रूप हो जाता है ॥५७–५८॥

हे राम! उक्त रीति से तत्त्व ज्ञान पूर्वक मुझे जानने वाले के सिवा त्रैलोक्य में अन्य कोई ऐसा नहीं जो कैवल्य मुक्ति फल को प्राप्त कर सके ॥५९॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक, शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में विभूतियोग नामक षष्ठम अध्याय संपूर्ण हुआ ।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीराम उवाच ।

भगवन् यन्मया पृष्टं तत् तथैव स्थितं विभो ।
अत्रोत्तरं मया लब्धं त्वत्तो नैव महेश्वर ॥ १ ॥
परिच्छिन्नपरीमाणे देहे भगवतस्तव ।
उत्पत्तिः सर्वभूतानां स्थितिर्वा विलयः कथम् ॥२॥
स्वस्वाधिकारसंबद्धाः कथं नाम स्थिताः सुराः ।
ते सर्वे त्वं कथं देव भुवनानि चतुर्दश ॥ ३ ॥
त्वत्तः श्रुत्वापि देवात्र संदेहो मे महानभूत् ।
अप्रत्यायितचित्तस्य संशयं छेत्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

अध्याय ७

विश्व रूप दर्शन

श्रीराम ने कहा — भगवन! मेरा किया हुआ प्रश्न तो पूर्ववत् ही रह गया । हे विभो! आपके कथन से मुझे उस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। महेश्वर ! मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आपके ऐश्वर्यवाले परन्तु परिच्छिन्न परिमाणवाले इस श्रीविग्रह से सर्व भूतों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है और उसी में उनकी स्थिति व लय भी कैसे सम्भव है? ॥१–२॥

अपनी पदवी का निर्वाह करने वाले अधिकार सम्पन्न इन्द्रादि देव आपके शरीर में किस प्रकार स्थित हैं? हे देव! चौदह भुवन आपके ही रूप कैसे हैं? ॥३॥ आप से इसका विवरण सुनकर भी मेरा सन्देह दूर नहीं हुआ, जिसके कारण मेरा चित्त निश्चय–ज्ञान हीन है । हे महादेव इस संशय का उच्छेदन करने में आप ही समर्थ हैं ॥४॥

श्रीशिव उवाच ।

वटबीजे सुसूक्ष्मेऽपि महावटतरुर्यथा ।
सर्वदास्तेऽन्यथा वृक्षः कुत आयाति तद् वद ॥५॥
तद्वन्मम तनौ राम भूतानामागतिर्लयः ।
महासैन्धवपिण्डोऽपि जले क्षिप्तो विलीयते ॥६॥
न दृश्यते पुनः पाकात् तत आयाति पूर्ववत् ।
प्रातः प्रातर्यथा लोको जायते सूर्यमण्डलात् ॥७॥
एवं मत्तो जगत्सर्वं जायतेऽस्ति विलीयते ।
मय्येव सकलं राम तद्वज्जानीहि सुव्रत ॥८॥

श्रीशिव ने कहा—(मैंने तुम को वस्तुस्थिति का वर्णन किया था। तुम उत्तम शिष्य हो। तर्क द्वारा विषय का पोषण करना चाहते हो, अतः इस विषय में उपादेय तर्क प्रस्तुत करता हूँ।) वट वृक्ष के दृष्टान्त से इस बात को समझो। वट बीज में अत्यन्त सूक्ष्म कण हैं। एक एक कण में शक्ति रूप से विशालकाय वृक्ष रहता है कि नहीं? दृष्टिगोचर न होने पर भी अनुमान से विदित होता है कि वटवृक्ष वहाँ पर है। यदि वहाँ न हो तो वटवृक्ष कहाँ से निकल कर आ सकता है? अन्य कोई कारण नहीं और कारण के बिना कार्य असम्भव है ॥५॥ इसी प्रकार समस्त संसार का एक मात्र कारण होने से सारा संसार मुझ में ही है। मेरे स्वरूप में ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति व लय समझना चाहिये। इसमें दूसरा दृष्टान्त सैन्धव-पिण्ड का है। सैन्धव-नमक की एक डली जल में डाल देने पर थोड़ी देर में अदृश्य हो जाती है। मानना पड़ेगा कि वह नमक जल में विलीन हो गया, अन्यथा उस जल को पुनः पकाने पर नमक की प्राप्ति कैसे सम्भव है? इसी प्रकार दिखाई न देते हुए भी निश्चित रूप से सारा जगत मेरे विग्रह में ही है, अतः वहीं से उदित होता है। प्रति दिन प्रातःकाल सूर्यमण्डल से प्रकाश निकलकर जगत

श्रीराम उवाच ।

कथितेऽपि महाभाग दिग्जडस्य यथा दिशि ।
निवर्तते भ्रमो नैव तद्वन्मम करोमि किम् ॥ ९ ॥

श्रीशिव उवाच ।

मयि सर्वं यथा राम जगदेतच्चराचरम् ।
वर्तते तद् दर्शयामि न द्रष्टुं क्षमते भवान् ॥ १० ॥
दिव्यं चक्षुः प्रदास्यामि तुभ्यं दशरथात्मज ।
तेन पश्य भयं त्यक्त्वा मत्तेजोमण्डलं ध्रुवम् ॥ ११ ॥
न चर्मचक्षुषा द्रष्टुं शक्यते मामकं महः ।
नरेण वा सुरेणापि तन्ममानुग्रहं विना ॥ १२ ॥

को व्याप्त करता है और सूर्यास्त होने पर पुनः सूर्य में विलीन हो जाता है । सूर्य के प्रकाश का अस्तित्व किसी भी देश या काल में सूर्य से पृथक सिद्ध नहीं होता । यही बात जगत की स्फूर्ति के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए । सुव्रत! जगत की सृष्टि, स्थिति और लय की सत्ता व स्फूर्ति मेरे में ही है ऐसा निश्चय करो ॥६–८॥

श्रीराम ने कहा — महाभाग! जब किसी पुरुष को दिशाभ्रम हो जाता है तब आप्तपुरुष के बताने पर भी कि वही उसको गन्तव्य दिशा है, उसका भ्रम नहीं हटता । भ्रमित उस दिशा में जाने का निश्चय नहीं कर पाता । इसी प्रकार की मेरी स्थिति है । आपके निर्दुष्ट तर्कों से भी स्पष्ट भान नहीं हो रहा है; मैं क्या करूँ? ॥९॥

श्रीशिव ने कहा — हे राम! सारा चराचर जगत मुझ ईश्वर में कैसे रहता है — इस का मैं तुम्हारे लिये साक्षात् प्रदर्शन करूँगा और उसको ग्रहण करने की दिव्य ज्ञान दृष्टि भी प्रदान करूँगा । हे दशरथ पुत्र! उसके द्वारा तुम मेरे तेजोमय शरीर का निर्भय और स्थिर चित्त से दर्शन करो ॥१०–११॥ मेरे

सूत उवाच ।

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं चक्षुर्महेश्वरः ।
अथादर्शयदेतस्मै वक्त्रं पातालसंनिभम् ॥ १३ ॥
विद्युत्कोटिप्रभं दीप्तमतिभीमं भयावहम् ।
तद्दृष्ट्वैव भयाद् रामो जानुभ्यामवनिं गतः ॥ १४ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ तुष्टाव च पुनः पुनः ।
अथोत्थाय महावीरो यावदेव प्रपश्यति ॥ १५ ॥
वक्त्रं पुरभिदस्तावदन्तर्ब्रह्माण्डकोटयः ।
चटका इव लक्ष्यन्ते ज्वालामालासमाकुलाः ॥ १६ ॥

अनुग्रह के बिना मेरे इस प्रचण्ड तेजको कोई भी मानव या देव अपने चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकता ॥१२॥

सूतजी ने कहा:— ऐसा कहते हुए महेश्वर ने, राम में दिव्य दृष्टि जाग्रत करके, तुरन्त ही पाताल सदृश अपने काल-मुख को दिखाया ॥१३॥

उस समय करोड़ों बिजलियों जैसे प्रचण्ड एवं भयानक प्रकाश को देखकर रुद्रकोप की आशंका से तनिक भयाविष्ट राम जानुओं को भूमि पर रखकर दण्डवत् प्रणाम करते हुए बारम्बार शंकर की स्तुति करने लगे। फिर महावीर राम खड़े होकर सामने प्रकट विलक्षण दृश्य को ध्यान से देखने लगे ॥१४–१५॥

वहाँ त्रिपुरारि महेश्वर के विस्तृत मुख में अग्नि ज्वालाओं से आवृत करोड़ों ब्रह्माण्ड इतने क्षुद्र लक्षित हो रहे थे जैसे उड़ते हुए गौरैये। परन्तु साथ ही साथ उनमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अन्दर की सारी सृष्टि दृष्टिगोचर हो रही थी। मेरु, मन्दर, विन्ध्य आदि पर्वत, अरण्य स्थल, सप्त सागर, चन्द्र–सूर्यादि ग्रह-गण, पञ्च महाभूतों के सभी कार्य, पाताल लोक के बड़े बड़े नाग, देवलोक के सभी देव आदि सहित चौदह भुवन वहाँ दृश्यमान थे। पूर्वकाल में व्यतीत एवं भविष्य में होने वाले

मेरुमन्दरविंध्याद्या गिरयः सप्त सागराः ।
दृश्यन्ते चन्द्रसूर्याद्याः पञ्चभूतानि ते सुराः ।। १७ ।।
अरण्यानि महानागा भुवनानि चतुर्दश ।
प्रतिब्रह्माण्डमेवं तद् दृष्ट्वा दशरथात्मजः ।। १८ ।।
सुरासुराणां संग्रामास्तत्र पूर्वापरानपि ।
विष्णोर्दशावतारांश्च तत्तत्कर्माण्यपि द्विजाः ।। १९ ।।
पराभवांश्च देवानां पुरदाहं महेशितुः ।
उत्पद्यमानानुत्पन्नान् सर्वानपि विनश्यतः ।। २० ।।
दृष्ट्वा रामो भयाविष्टः प्रणनाम पुनः पुनः ।
उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि बभूव रघुनन्दनः ।। २१ ।।
अथोपनिषदां सारैरर्थैस्तुष्टाव शंकरम् ।। २२ ।।

श्रीराम उवाच ।

देव प्रपन्नार्तिहर प्रसीद
प्रसीद विश्वेश्वर विश्ववन्द्य ।
प्रसीद गङ्गाधर चन्द्रमौले
मां त्राहि संसारभयादनाथम् ।। २३ ।।

देव-दानव संग्राम, इनमें देवताओं की बार–बार पराजय, विष्णु के मुख्य दशावतार तथा प्रत्येक अवतार के सभी लीला कर्म, महेश्वर द्वारा त्रिपुर का भस्म होना, इन सब को देखकर श्रीराम चकित हो गये और पुनः पुनः भगवान शंकर को प्रणाम करने लगे । इस विराट दर्शन से रघुनन्दन श्रीराम के चित्त में ईश्वर तत्त्व का साक्षात् ज्ञान उत्पन्न हो गया । अतः उन्होंने उपनिषदों के सारभूत वचनों से एवं अर्थगर्भित पदों से शंकर की स्तुति प्रारम्भ कर दी ।।१६–२२।।

श्रीराम ने कहा — शरणागत के दुःख को हरने वाले महादेव ! आप प्रसन्न हो जावें । विश्वेश्वर, विश्ववन्द्य ! आप की प्रसन्नता

त्वत्तो हि जातं जगदेतदीश
त्वय्येव भूतानि वसन्ति नित्यम् ।
त्वय्येव शंभो विलयं प्रयान्ति
भूमौ यथा वृक्षलतादयोऽपि ।। २४ ।।
ब्रह्मेन्द्ररुद्राश्च मरुद्गणाश्च
गन्धर्वयक्षाऽसुरसिद्धसङ्घाः ।
गङ्गादिनद्यो वरुणालयाश्च
वसन्ति शूलिंस्तव वक्त्रयन्त्रे ।। २५ ।।
त्वन्मायया कल्पितमिन्दुमौले
त्वय्येव दृश्यत्वमुपैति विश्वम् ।
भ्रान्त्या जनः पश्यति सर्वमेत-
च्छुक्तौ यथा रौप्यमहिं च रज्जौ ।। २६ ।।

के लिये मैं स्तुति कर रहा हूँ । हे गंगाधर, चन्द्रमौलि! मुझ अनाथ पर प्रसन्न होकर संसार भय से मेरी रक्षा कीजिये ॥२३॥ जैसे वृक्ष लतादि वनस्पतियाँ भूमि से उत्पन्न होकर उसी में स्थित हो वृद्धि को प्राप्त करती हैं और समय पर उसी में लीन हो जाती हैं, इसी प्रकार समस्त भूतों की उत्पत्ति, निवास और प्रलय स्थान एक मात्र आप ही हैं ॥२४॥

ब्रह्मा, इन्द्र, एकादश रुद्र, उनचास मरुत गण, गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध आदि दिव्य योनियों का समूह, गंगा आदि नदियों सहित वरुणालय सबके सब आपके काल रूप मुख–यन्त्र के अन्दर रहते हैं ॥२५॥ हे चन्द्रमौलि! आपके अन्दर यह समस्त विश्व आपकी माया से ही दृश्यत्व को प्राप्त हो रहा है । अतः उस माया से मोहित जनों को ही यह सत्यवत् दिखाई देता है, जैसे मन्द अन्धकार से भ्रमित व्यक्ति को रस्सी में सर्प या सूर्य के प्रकाश की चमक से प्रभावित को सीप में चाँदी ॥२६॥ समस्त जगत में व्याप्त आप का ही तेज उसे प्रकाशित कर रहा है । हे

तेजोभिरापूर्य जगत्समस्तं
प्रकाशमानं कुरुषे प्रकाशम् ।
विना प्रकाशं तव देवदेव
न दृश्यते विश्वमिदं क्षणेन ।। २७ ।।

अल्पाश्रयो नैव बृहन्तमर्थं
धत्तेऽणुरेको न हि विन्ध्यशैलम् ।
त्वद्वक्त्रमात्रे जगदेतदस्ति
त्वन्माययैवेति विनिश्चिनोमि ।। २८ ।।

राज्जौ भुजङ्गो भयदो यथैव
न जायते नास्ति न चैति नाशम् ।
त्वन्मायया केवलमात्तरूपं
तथैव विश्वं त्वयि नीलकण्ठ ।। २९ ।।

देवाधिदेव! आप के प्रकाश के बिना यह सब एक क्षण में अदृश्य हो जाता है (इसी से ज्ञात होता है कि यह भिन्न भिन्न नाम रूप वाला जगत–चित्र उसी प्रकाश मात्र का विवर्त है) ।।२७।। अणु जैसे अल्पाश्रय केलिये विन्ध्याचल जैसे बृहद पदार्थ को धारण करना असम्भव है । फिर भी आप के छोटे से मुँह में समस्त जगत दिखाई देता है । इससे भी मुझे यह दृढ़ निश्चय हो रहा है कि यह सब आपकी माया के कारण ही है, वास्तविक नहीं ।।२८।। रस्सी में दिखाई देनेवाले सर्प में सत्यत्व बुद्धि ही उसे भयप्रद बनाती है । वास्तव में भागना, चिल्लाना, दण्डप्रहार करना आदि व्यवहार के होते हुए भी वहाँ सर्प या अन्य भयद कुछ है ही नहीं । उसका न तो जन्म ही हुआ है और न उसके नाश की ही आवश्यकता है । नीलकण्ठ! इसी प्रकार आप की माया से संसार उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होती है । यही प्रतीति सारी प्रवृत्ति का निर्वाह करती है ।।२९।।

विचार्यमाणे तव यच्छरीर-
माधारभावं जगतामुपैति ।
तदप्यवश्यं मदविद्ययैव
पूर्णश्चिदानन्दमयो यतस्त्वम् ।।३०।।
पूजेष्टपूर्तादिवरक्रियाणां
भोक्तुः फलं यच्छसि शस्तमेव ।
मृषैतदेवं वचनं पुरारे
त्वत्तोऽस्ति भिन्नं न च किञ्चिदेव ।। ३१ ।।
अज्ञानमूढा मुनयो वदन्ति
पूजोपचारादिबलिक्रियाभिः ।
तोषं गिरीशो भजतीति मिथ्या
कुतस्त्वमूर्तस्य तु भोगलिप्सा ।। ३२ ।।

तीक्ष्ण विचार करने पर विदित होता है कि आपके शरीर को आधारित करके उसमें आधेय रूप से विश्वका भान होता है — ऐसा मानना भी मेरा अज्ञान ही है । आप स्वयं परिपूर्ण चिदानन्द स्वरूप होने से आप में कई अंशों की कल्पना एवं एक अंश का आवृत होकर दूसरे अंशका प्रकाशित होना ये दोनों असम्भव हैं । इस प्रकार के अंशतः आवरण के बिना भ्रम या अध्यास बनता नहीं । अतः वस्तुतः भ्रमका भी आधार आप हो नहीं सकते ।।३०।। पूजा एवं इष्ट–पूर्तादि पुण्यं कर्मों को करने वाले भक्तों को आप प्रशस्त सुख रूप फल प्रदान करते हैं–ऐसा जो वचन सुनने में आता है वह भी अविद्या निमित्तक होने से मिथ्या ही है । क्योंकि, हे पुरारि ! आप के अतिरिक्त और कोई है ही नहीं तो कर्ता, कर्म, कर्म–फल एवं फल-दाता की विचित्रता कैसे सत्य हो सकती है ? ।।३१।।

बड़े मनन शील विद्वान भी कहते रहते हैं कि जल, पुष्प, नैवेद्य आदि उपचारों से संपन्न पूजादि क्रियाओं से संन्तुष्ट होकर

किञ्चिद्दलं वा चुलकोदकं वा
यत्त्वं महेश प्रतिगृह्य दत्से ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीमपि तज्जनेभ्यः
सर्वं त्वविद्याकृतमेव मन्ये ।। ३३ ।।
व्याप्नोषि सर्वा विदिशो दिशश्च
त्वं विश्वमेकः पुरुषः पुराणः ।
नष्टेऽपि तस्मिस्तव नास्ति हानिर्-
घटे विनष्टे नभसो यथैव ।। ३४ ।।
यथैकमाकाशगमर्कबिम्बं
क्षुद्रेषु पात्रेषु जलान्वितेषु ।
भजत्यनेकप्रतिबिम्बभावं
तथा त्वमन्तः करणेषु देव।।३५।।

भगवान गिरीश भक्त की मनोकामना पूर्ण करते हैं । परन्तु अमूर्त्त होने से आपकी पूजा बनती ही नहीं । तथा आप पूर्णकाम में पूजित होने की लिप्सा न होने से कल्पित पूजा के द्वारा भी आपका सन्तुष्ट होना असंभव है ।।३२।।

अतः हे महेश! मैं यही मानता हूँ कि थोड़ासा जल या बिल्वदल पूजा रूप में स्वीकारके आप उस पूजक को त्रिलोकी का ऐश्वर्य दे देते हैं इस प्रकार की सभी धारणा अविद्या के ही कारण है ।।३३।।

आप समस्त दिशाओं और विदिशाओं को व्याप्त करने वाले पुराण पुरुषोत्तम हैं । दिशासहित सारे जगत के नष्ट होने पर भी आपकी कोई हानि नहीं, ठीक जैसे घटके टूटने पर उसके अन्दर का घटाकाश खण्डित नहीं होता ।।३४।।

जीव जगत में भी आप का इसी प्रकार का असंस्पृष्ट भाव है । जैसे आकाश में स्थित एक निश्चल रवि-बिम्ब ही छोटे-छोटे

संसर्जने वाऽप्यवने विनाशे
विश्वस्य किञ्चत् तव नास्ति कार्यम् ।
अनादिभिः प्राणभृतामदृष्टै-
स्तथापि तत्स्वप्नवदातनोषि ।। ३६ ।।

स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जडस्य भोगो
देहस्य शंभो न चिदं विनास्ति ।
अतस्त्वदारोपणमातनोति
श्रुतिः पुरारे सुखदुःखयोः सदा ।। ३७ ।।

पात्रों के जल में अनेक एवं चलायमान होता दिखाई देता है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अन्तःकरण में अखण्ड चैतन्य-मूर्ति आप अनेक संसारी जीव रूप में भासित हो रहे हैं ।।३५।।

विश्व की सृष्टि, पालन और विनाश में आप का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है, तथापि लिंग शरीर में आरूढ़ चैतन्याभास जीवों के कर्मानुसार उनको तत्तत् भोग दिलाने के लिये स्वप्न की भाँति आप विश्व की रचनादि करते हैं ।।३६।।

हे पुरमथन! स्थूल एवं सूक्ष्म देह के द्वारा होनेवाले सुख-दुःख का भोग चित्स्वरूप आत्मा के बिना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि चित् रहित वे देहद्वय तो जड़ हैं। चित् स्वरूप का देहद्वय के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध युक्ति-युक्त नहीं है ।

अतः श्रुतियाँ यह प्रतिपादन करती हैं कि जड़ शरीर के साथ आप चित्स्वरूप का सम्बन्ध आरोपित (कल्पित) है। और उसी से सुखदुःख सिद्ध होते हैं ।।३७।।

[जगज्जन्मादि के कारणभूत ब्रह्म तत्त्व की अनुभूति को प्रकट करने वाले विराट् दर्शन को देखते समय श्रीराम के मानस में इस प्रकार का चिन्तन उदित हुआ। तदनन्तर वे अनुभूति के

नमः सच्चिदम्भोधिहंसाय तुभ्यं
नमः कालकालाय कालात्मकाय ।
नमस्ते समस्ताघसंहारकर्त्रे
नमस्ते मृषा चित्तवृत्त्यैकभोक्त्रे ।। ३८ ।।

सूत उवाच ।

एवं प्रणम्य विश्वेशं पुरतः प्राञ्जलिः स्थितः ।
विस्मितः परमेशानं जगाद रघुनन्दनः ।। ३९ ।।

श्रीराम उवाच ।

उपसंहर विश्वात्मन् विश्वरूपमिदं तव ।
प्रतीतं जगदैकात्म्यं शंभो भवदनुग्रहात् ।। ४० ।।

भार से अभिभूत हो अपने इष्टदेव के सामने नतमस्तक हो कहने लगे]—

सच्चित् सागर में विलास करने वाले श्वेत हंस रूप आपको नमस्कार है। आप कालस्वरूप हैं, काल के भी काल हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। अज्ञान रूपी समस्त पाप को नष्ट करने वाले ज्ञान-विग्रह आप को नमस्कार है। साक्षी रूप से ही मिथ्याभूत अशेष चित्त-वृत्तियों का भोग करने वाले आप परमात्मा को बारम्बार नमस्कार है ।।३८।।

सूतजी ने कहा — इस प्रकार विश्वेश्वर को प्रणाम करके रघुनन्दन उठे और हाथ जोड़ परमेश्वर के सामने खड़े हो विस्मय पूर्वक कहने लगे कि "[हे विश्वात्मन्! आप अपने इस विश्वरूप को समेट लीजिये। शंभु! आपके अनुग्रह से मुझे ईश्वर–जीव–जगत की अखण्ड एकता का भान हो गया है ।।३९–४०।।

श्रीशिवने कहा — हे महाबाहु राम! मेरे सिवा कोई नहीं है इस बात का तुम प्रत्यक्ष दर्शन कर लो।

श्रीशिव उवाच ।

पश्य राम महाबाहो मत्तो नान्योऽस्ति कश्चन ।

सूत उवाच ।

इत्युक्त्वैवोपसंजह्रे स्वदेहे देवतादिकान् ॥ ४१ ॥
मीलिताक्षः पुनर्हर्षाद् यावद् रामः प्रपश्यति ।
तावदेव गिरेः शृङ्गे व्याघ्रचर्मोपरि स्थितम् ॥४२॥
ददर्श पञ्चवदनं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ।
व्याघ्रचर्माम्बरधरं भूतिभूषितविग्रहम् ॥ ४३ ॥
फणिकङ्कणभूषाढ्यं नागयज्ञोपवीतिनम् ।
व्याघ्रचर्मोत्तरीयं च विद्युत्पिङ्गजटाधरम् ॥ ४४ ॥
एकाकिनं चन्द्रमौलिं वरेण्यमभयप्रदम् ।
चतुर्भुजं खण्डपरशुं मृगहस्तं जगत्पतिम् ॥ ४५ ॥

सूतजी ने कहा — ऐसा कह कर भगवान ने अपने देह में समस्त देवता आदि तत्त्वों को लीन कर लिया ॥४१॥

रामने उस समय हर्ष की अधिकता से अपने नेत्र बन्द कर लिये थे। उन्हों ने जब पुनः आँखें खोल कर देखा तो गिरि शिखर के ऊपर व्याघ्र-चर्म पर आसीन पञ्च-वदन, त्रिलोचन भगवान नीलकण्ठ का सुन्दर सौम्य दर्शन हुआ। भगवान व्याघ्र-चर्म को ही वस्त्र एवं उत्तरीय रूप से पहने थे। सारा शरीर भस्म से विभूषित था। नाग ही यज्ञोपवीत एवं कंकण आदि आभूषण थे। वे विद्युत पिंगल जटा मण्डल धारण किये थे। ॥४२–४४॥

भगवान अकेले बैठे थे। अपनें चार करकमलों से खण्ड-परशु, मृग, वर एवं अभय मुद्रा का प्रदर्शन कर रहे थे। समस्त जगत के स्वामी चन्द्रमौलि का वह रूप बड़ा पूजनीय एवं मनोहर था ॥४५॥

अथाज्ञया पुरस्तस्य प्रणम्योपविवेश सः ।
अथाह रामं देवेशो यद्यत्प्रष्टुमभीप्ससि ।
तत्सर्वं पृच्छ राम त्वं मत्तो नान्योऽस्ति ते गुरुः ॥४६॥

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे विश्वरूपदर्शनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

उनकी आज्ञा पाकर राम उनके सामने गये और प्रणाम करके पास में बैठ गये। तदनन्तर देवेश्वर भगवान शंकर ने राम से कहा, "जो कुछ तुम पूछना चाहते हो वह सब पूछ सकते हो। हे राम! मेरे अतिरिक्त अन्य कोई तुम्हारा गुरु नहीं है" ॥४६॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक शिवगीता-उपनिषद् शास्त्र में विश्वरूपदर्शन नामक सप्तम अध्याय संपूर्ण हुआ।

अष्टमोऽध्यायः

श्रीराम उवाच ।

पाञ्चभौतिकदेहस्य चोत्पत्तिर्विलयः स्थितिः ।
स्वरूपं च कथं देव भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ १ ॥

श्रीशिव उवाच ।

पञ्चभूतैः समारब्धो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
तत्र प्रधानं पृथिवी शेषाणां सहकारिता ॥ २ ॥
जरायुजोऽण्डजश्चैव स्वेदजश्चोद्भिदस्तथा ।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ॥३॥
मानसस्तु परः प्रोक्तो देवानामेव स स्मृतः ।
तत्र वक्ष्ये प्रथमतः प्रधानत्वाज्जरायुजम् ॥ ४ ॥

अध्याय ८
पिण्डोत्पत्ति का वर्णन

श्रीरामने पूछा — महादेव! पाँचभौतिक इस शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और लय किस प्रकार होते हैं ? इस देह का क्या स्वरूप है ? भगवन ! यह आप कृपाकरके बतलाइये ॥ १ ॥

श्रीशिवने कहा — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इन पञ्च महाभूतों से उत्पन्न यह शरीर स्वरूपतः भौतिक है । इसमें पृथ्वी की ही प्रधानता है, शेष चार तत्त्व सहकारी हैं ॥ २ ॥ भौतिक देह के चार प्रकार कहे गये हैं — जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ॥ ३ ॥ इनके अतिरिक्त मानस शरीर भी हैं। देवादि उत्तम योनियों में ही यह शरीर प्राप्त होता है । ऐसा शास्त्रों का मत है । इनमें से जरायुज मुख्य होने से सर्वप्रथम मैं उसीका वर्णन करता हूँ ॥ ४ ॥

शुक्रशोणितसंभूतवृत्तिरेव जरायुजः ।
स्त्रीणां गर्भाशये शुक्रमृतुकाले विशेद्यदा ।
योषितो रजसा युक्तं तदेव स्याज्जरायुजम् ॥ ५ ॥
बाहुल्याद्रजसः स्त्री स्याच्छुक्राधिक्ये पुमान्भवेत् ।
शुक्रशोणितयोः साम्ये जायते च नपुंसकः ॥ ६ ॥
ऋतुस्नाता भवेन्नारी चतुर्थे दिवसे ततः ।
ऋतुकालस्तु निर्दिष्ट आषोडशदिनावधि ।
तत्रायुग्मदिने स्त्री स्यात् पुमान् युग्मदिने भवेत् ॥ ७ ॥
षोडशे दिवसे गर्भो जायते यदि सुभ्रुवः ।
चक्रवर्ती भवेद् राजा जायते नात्र संशयः ॥ ८ ॥

शुक्र और शोणित के संयोग से जो उत्पन्न होता है उसीको जरायुज कहते हैं । ऋतुकाल में स्त्री के गर्भाशय में प्रविष्ट शुक्र ही वहाँ के रज से युक्त होकर जरायुज शरीर बनता है ॥ ५ ॥ रज की अधिकता से स्त्री शरीर तथा शुक्राधिक्य से पुरुष शरीर बनता है । यदि शुक्र, शोणित की साम्यता है तो नपुंसक जन्म लेता है ॥ ६ ॥ मासिक धर्म के चतुर्थ दिवस में ऋतु-स्नान करने के बाद सोलहवें दिन पर्यन्त (बीच की बारह रात्रियों में) ऋतु काल माना गया है । इन्हीं में गर्भाधान का शास्त्र-निर्देश है, अन्य समय में नहीं । ऋतु कालमें भी युग्म (छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं एवं सोलहवीं) रात्रि में गर्भाधान से पुत्र प्राप्त होता है । एवं अयुग्म रात्रि के गर्भाधान से कन्या होती है ॥ ७ ॥ यदि सोलहवीं रात्रि में गर्भाधान किया जाय तो सौन्दर्य-सम्पन्न ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है जो आगे जाकर चक्रवर्ती सदृश उन्नत पदवी प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

ऋतुस्नाता जिस पुरुष की आकृति को कामना पूर्वक देखती है वैसा ही गर्भ का आकार बनता जाता है । अतः स्त्री को चाहिए

ऋतुस्नाता यस्य पुंसः साकाङ्क्षं मुखमीक्षते ।
तदाकृतिर्भवेद्गर्भस्तत्पश्येत् स्वामिनो मुखम् ॥ ९ ॥
याऽस्ति चर्मावृतिः सूक्ष्मा जरायुः सा निगद्यते ।
शुक्रशोणितयोर्योगस्तस्मिन्नेव भवेद्यतः ।
तत्र गर्भो भवेद्यस्मात् तेन प्रोक्तो जरायुजः ॥ १० ॥
अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मशकादयः ।
उद्भिज्जास्तृणगुल्माद्या मानसाश्च सुरर्षयः ॥ ११ ॥
जन्मकर्मवशादेव निषिक्तं स्मरमन्दिरे ।
शुक्रं रजःसमायुक्तं प्रथमे मासि तद्द्रवम् ॥ १२ ॥
कललं बुद्बुदं तस्मात् ततः पेशी भवेदिदम् ।
पेशीघनं द्वितीये तु मासि पिण्डः प्रजायते ॥ १३ ॥

कि वह अपने पतिका दर्शन करे ॥ ९ ॥ गर्भाशय में जिस सूक्ष्म-चर्म के आवरण में रज-वीर्य का संयोग होता है उसे जरायु कहते हैं। जरायु से जो शरीर उत्पन्न होता है वह जरायुज है ॥ १० ॥ पक्षी, सर्पादि एवं मच्छर, डांस, आदि अंडज हैं। जूं, लीख आदि स्वेदज हैं। तृण, पेड़-पौधे उद्भिज्ज हैं। सुर, ऋषि आदि मानस योनि कहलाते हैं ॥ ११ ॥

(अब मैं पिण्डोत्पत्ति का क्रम बताता हूँ) पूर्व जन्मों के कर्मों से प्रेरित होकर ही पिता का वीर्य गर्भाशय में माताके रजसे युक्त होकर पिण्डोत्पत्ति का कारण बनता है। वह प्रथम माह में तरल (द्रवरूपमें) रहता है ॥ १२ ॥ फिर वही धीरे-धीरे फेन, बुद्बुद् रूप होते हुए मांसपेशीमय बन जाता है। द्वितीय मासमें वह घनीभूत होकर मांस-पिण्ड रूप हो जाता है ॥ १३ ॥ तृतीय मासमें उस मांस पिण्ड से हाथ-पैर सिर आदि अवयव निकलते हैं। चतुर्थ मास में जीव चैतन्य की अभिव्यक्ति होते ही वह गर्भ माता के जठर में स्वयं हिलने डुलने लगता है ॥ १४ ॥ पुत्र हो तो जठर

करााङ्घ्रिशीर्षकादीनि तृतीये संभवन्ति हि ।
अभिव्यक्तिश्च जीवस्य चतुर्थे मासि जायते ।
ततश्चलति गर्भोऽपि जनन्या जठरे स्वतः ।। १४ ।।
पुत्रश्चेद् दक्षिणे पार्श्वे कन्या वामे च तिष्ठति ।
नपुंसकस्तूदरस्य भागे तिष्ठति मध्यतः ।। १५ ।।
अतो दक्षिणपार्श्वे तु शेते माता पुमान् यदि ।
अङ्गप्रत्यङ्गभागाश्च सूक्ष्माः स्युर्युगपत् तदा ।। १६ ।।
विहाय श्मश्रुदन्तादीञ्जन्मानन्तरसंभवान् ।
चतुर्थे व्यक्तता तेषां भावानामपि जायते ।। १७ ।।
पुंसां स्थैर्यादयो भावा भीरुत्वाद्यास्तु योषिताम् ।
नपुंसके च ते मिश्रा भवन्ति रघुनन्दन ।। १८ ।।

के दाहिने भाग में रहता है। यदि सन्तान कन्या हो तो वह बायीं ओर स्थित होती है । नपुंसक की स्थिति माँ के उदर मध्य में होती है ।। १५ ।। इसी कारण से, यदि बालक को जन्मदेने वाली माँ दाहिनी ओर करवट लेकर सोती है तो प्रसूत-शिशु के अंग प्रत्यंग एक तरफ़ से पतले व दबे हुए होते हैं ।। १६ ।।

जन्म के अनन्तर दीर्घकाल के बाद होने वाले दाँत, मूँछ आदि को छोड़कर स्त्री-पुरुष भेद के विविध भाव भी चतुर्थ मास में प्रकट होते हैं ।। १६ ।। दृढ़ता पुरुष शरीर की और भीरुता आदि स्त्री शरीर के भाव हैं । हे रघुनन्दन ! नपुंसक में दोनों भाव मिश्रित होते हैं ।। १८ ।।

इस अवस्था में माँ के हृदय द्वारा ही सन्तान की भी अभिलाषायें स्फुरित होती हैं । अतः परिपूर्ण गर्भ-वृद्धि के लिये गर्भिणी माँ की मनोकामनाओं को यथासम्भव पूर्ण करना चाहिये ।। १९ ।। इस प्रकार दो हृदयवाली होने से ही नारीको 'दौहृदिनी' कहते

मातृजं चास्य हृदयं विषयानभिकाङ्क्षति ।
ततो मातुर्मनोभीष्टं कुर्याद् गर्भविवृद्धये ।। १९ ।।
तां च द्विहृदयां नारीमाहुर्दौहृदिनीं ततः ।
अदानाद्दौहृदानां स्युर्गर्भस्य व्यङ्गतादयः ।। २० ।।
मातुर्यद्विषये लोभस्तदार्तो जायते सुतः ।
प्रबुद्धं पञ्चमे चित्तं मांसशोणितपुष्टता ।। २१ ।।
षष्ठेऽस्थिस्नायुनखरकेशलोमविविक्तता ।
बलवर्णौ चोपचितौ सप्तमे त्वङ्गपूर्णता ।। २२ ।।
पादान्तरितहस्ताभ्यां श्रोत्ररन्ध्रे पिधाय सः ।
उद्विग्नो गर्भसंवासादस्ति गर्भालयान्वितः ।। २३ ।।
आविर्भूतप्रबोधोऽसौ गर्भदुःखादिसंयुतः ।
हा कष्टमिति निर्विण्णः स्वात्मानं शोशुचीत्यथ ।। २४ ।।

हैं । दौहृदिनो जो चाहती है वह वस्तु प्राप्त न होने पर गर्भ की अंग वृद्धि व बुद्धि की तेजस्विता आदि में न्यूनता आ जाती है ।। २० ।। माता का जिस विषय में लोभ है उसीके प्रति सन्तान भी आतुर हो उठती है । पाँचवे मास में क्रमशः पिण्ड में चित्त प्रबुद्ध हो जाता है । माँस, रुधिर आदि भी पुष्ट हो जाते हैं ।।२१।। छठे माह में हड्डी, स्नायु, नख एवं केश-लोम आदि अलग-अलग स्पष्ट रूप धारण कर लेते हैं । शरीर के बल एवं वर्ण की वृद्धि होने से सातवें माह में समस्त अंगों में पूर्णता आ जाती है ।।२२।। उस समय शिशु दोनों हाथों को पैरों के बीचमें ले जाकर दोनों कर्ण रन्ध्रों को उँगलियों से बन्द करके, गर्भवास के दुःख से उद्विग्न हो उसी गर्भालिय में पड़ा रहता है ।।२३।।

उसके अन्दर जन्म-जन्मान्तरों का ज्ञान जागृत हो जाता है । वर्तमान गर्भ के दुःख से खिन्न होकर "हाय ! यह कैसा कष्ट आ पड़ा है" — ऐसे सोचते हुये स्वयं के ऊपर करुणा व शोक

अनुभूता महासह्याः पुरा मर्मच्छिदोऽसकृत् ।
करंभवालुकास्तप्ता दह्यन्ते चासुखाशयाः ॥ २५ ॥
जठरानलसंतप्ताः पित्ताख्यरसविप्लुषः ।
गर्भाशये निमग्नं तु दहन्त्यतिभृशं हि माम् ॥ २६ ॥
औदर्यक्रिमिवक्त्राणि कूटशाल्मलिकण्टकैः ।
तुल्यानि च तुदन्त्यार्तं पार्श्वास्थिक्रकचार्दितम् ॥ २७ ॥
गर्भे दुर्गन्धभूयिष्ठे जठराग्निप्रदीपिते ।
दुःखं मयाप्तं यत्तस्मात् कनीयः कुम्भपाकजम् ॥ २८ ॥
पूयासृक्श्लेष्मपायित्वं वान्ताशित्वं च यद्भवेत् ।
अशुचौ क्रिमिभावश्च तत्प्राप्तं गर्भशायिना ॥ २९ ॥

करने लगता है ॥२४॥ "पूर्व जन्मों में नारकीय योनियों में कई बार महान असह्य मर्मच्छेदी दुःखों का मैंने अनुभव किया है। सन्तप्त रेत की दुःख शय्या पर लिटाये जाने पर शरीर के जौ-चावल की भाँति भुन जाने का भी मैंने अनुभव किया है ॥२५॥ परन्तु इस समय गर्भाशय में जठरानल से निरन्तर उबलने वाले पित्तादि रसों के प्रचुर प्रवाह में डूबते हुए मुझे उससे भी अधिक दाह हो रहा है ॥२६॥ यमराज की कूटशाल्मलि नामक गदा में और नारकीय यन्त्र विशेषों में लगे हुए काँटों की तरह माँ के उदर में स्थित असंख्य क्रिमि तीक्ष्णता से काटते रहते हैं। दूसरी ओर माता की पसलियों से मैं ऐसा अर्दित हूँ जैसे आरे के नीचे लकड़ी ॥२७॥ जठराग्नि से तपा हुआ और मलादि की गन्दगी से परिपूर्ण गर्भाशय में मुझे निरन्तर दुःख मिल रहा है। इसके सामने कुंभपाक आदि नरकों का कष्ट कुछ भी नहीं है ॥२८॥

यहाँ मैं इस महान अपवित्र स्थान में आकर उगले हुए वान्तान्न को खानेवाले एवं उत्सृष्ट–कफ–पीप आदि रक्त विकारों का पान करने वाले मल–कीड़े के बराबर हो गया हूँ ॥२९॥

गर्भशय्यां समारुह्य दुःखं यादृङ्मयापि तत् ।
नातिशेते महादुःखं निःशेषं नरकेषु तत् ।। ३० ।।
एवं स्मरन्पुरा प्राप्ता नानाजातीश्च यातनाः ।
मोक्षोपायमपि ध्यायन् वर्ततेऽभ्यासतत्परः ।। ३१ ।।
अष्टमे त्वक्स्मृती स्यातामोजस्तेजश्च हृद्भवम् ।
शुद्धमापीतरक्तं च निमित्तं जीविते मतम् ।। ३२ ।।
मातरं च पुनर्गर्भं चञ्चलं तत्प्रधावति ।
ततो जातोऽष्टमे गर्भो न जीवत्योजसोज्झितः ।। ३३ ।।
किंचित्कालमवस्थानं संस्कारात् पीडिताङ्गवत् ।
समयः प्रसवस्य स्यान्मासेषु नवमादिषु ।। ३४ ।।

गर्भ-शय्या पर आरूढ़ होकर जो महादुःख मुझे प्राप्त हुआ है उसके बराबर समस्त नरकों में मिलना असंभव है" ।।३०।। इस प्रकार वह गर्भस्थ शिशु पूर्व प्राप्त नाना प्रकार की यातनाओं का स्मरण करते हुए — "इस अनवरत दुःख-प्रवाह से छूटने का क्या उपाय है?" — ऐसे तीव्र चिन्तन में ही लगा रहता है ।।३१।।

इतने में अष्टम मास प्राप्त होने पर पिण्ड के ऊपर त्वचा का आवरण, अवयवों में गतिशीलता एवं हृदय में ओजस्-तैजस् आदि भाव प्रकट होते हैं । ये भाव और शरीर के अन्दर शुद्ध रक्त संचार ही शिशु को प्रसव काल में जीवित रखने में निमित्त हैं ।।३२।। यदि अष्टम मास में गर्भ की स्वाभाविक चंचलता के कारण गर्भपात हो जाय तो पूर्ण ओजस् से रहित होने पर वह शिशु प्रायः जीवित नहीं रहता ।।३३।।

गर्भ का प्रसव नवम या दशम मास में होना उचित है। तब तक जन्म देशकाल आदि के निर्णायक कर्मरूपी अदृष्ट संस्कार से निगृहीत वह गर्भ कुछ समय के लिये निश्चल हो जाता है । ठीक जैसे कोई भार वाहक भार से पीड़ित होने के कारण मार्ग में

मातुरस्रवहां नाडीमाश्रित्यान्ववतारिता ।
नाभिस्थनाडी गर्भस्य मात्राहाररसावहा ।
तेन जीवति गर्भोऽपि मात्राहारेण पोषितः ।। ३५ ।।
अस्थियन्त्रविनिष्पिष्टः पतितः कुक्षिवर्त्मना ।
मेदोऽसृग्दिग्धसर्वाङ्गो जरायुपुटसंवृतः ।। ३६ ।।
निष्क्रामन् भृशदुःखार्तो रुदन्नुच्चैरधोमुखः ।
यन्त्रादेव विनिर्मुक्तः पतत्युत्तानशाय्यधः ।। ३७ ।।
अकिंचित्कस्तथा बालो मांसपेशीसमास्थितः ।
श्वमार्जारादिदंष्ट्रिभ्यो रक्ष्यते दण्डपाणिभिः ।। ३८ ।।
पितृवद्राक्षसं वेत्ति मातृवड्डाकिनीमपि ।
पूयं पयोवदज्ञानाद् दीर्घकष्टं तु शैशवम् ।। ३९ ।।

तनिक देरके लिये स्थिर होकर विश्राम ले लेता है, फिर आगे बढ़ जाता है ।।३४।।

गर्भवास में शिशु की नाभि से सम्बन्धित नाड़ी द्वारा माता के शरीर का रस उसको पहुँचता रहता है जिससे शिशु-शरीर पोषित और जीवित रहता है । इसी नाड़ी का आश्रय लेकर शिशु का प्रसव होता है ।।३५।।

अस्थि-यन्त्रों से दबाये जाने पर जरायु नामक गर्भ-चर्मावरण से आवृत, रुधिर मेदादि से लिप्त शिशु-शरीर माँ की कुक्षि से निकलता है ।।३६।। निकलते समय वह अत्यन्त पीड़ा होनेके कारण उच्च स्वर से रुदन करता है । और योनि यन्त्र से छूटकर नन्हासा बच्चा भूमि पर गिरता है ।।३७।। उस समय वह बालक सर्वथा सामर्थ्य हीन, निर्बल एवं जड़ माँस पिण्ड मात्र प्रतीत होता है । अतः बिल्ली आदि माँसाहारी जानवरों से उसकी रक्षा करनेके लिये लोग हाथ में दण्ड लिये खड़े रहते हैं ।। ३८ ।।

उसकी ऐसी अबोधावस्था होती है कि पिता और राक्षस में तथा डाकिनी और माता में उसे कोई भेद ज्ञात नहीं होता है ।

श्लेष्मणा पिहिता नाडी सुषुम्ना यावदेव हि ।
व्यक्तवर्णं च वचनं तावद्वक्तुं न शक्यते ।
अतएव च गर्भेऽपि रोदितुं नैव शक्यते ।। ४० ।।
दृप्तोऽथ यौवनं प्राप्य मन्मथज्वरविह्वलः ।
गायत्यकस्मादुच्चैस्तु तथाऽकस्माच्च वल्गति ।। ४१ ।।
आरोहति तरून्वेगाच्छान्तानुद्वेजयत्यपि ।
कामक्रोधमदान्धः सन् न कांश्चिदपि वीक्षते ।। ४२ ।।
अस्थिमांससिरालाया वामाया मन्मथालये ।
उत्तानभूतमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।
आसक्तः स्मरबाणार्त आत्मना दह्यते भृशम् ।। ४३ ।।

वह पीप को भी दूध समझकर पी लेता है। अहो! शैशवावस्था की भी कैसी कष्टप्रद परतन्त्रता है ।। ३९ ।।

जब तक सुषुम्ना नाड़ी कफ़ से बन्द रहती है तब तक वर्ण की अभिव्यक्ति न होने से मनुष्य बोल नहीं सकता। इसलिये गर्भ में भी शिशु रोने में असमर्थ होता है ।। ४० ।। वही दयनीय बालक युवावस्था प्राप्त होने पर अपनी सामर्थ्य के गर्व से भर जाता है। कामवासना का ज्वर भी उस पर सवार हो जाता है। उससे विह्वल होकर वह समयासमय के विचार को छोड़कर अकस्मात ही जोर जोर से गाने लगता है। अकारण ही घोड़े की चालसे दौड़ता है ।। ४१ ।। अथवा निरुद्देश्य बड़े वेग से वृक्ष पर चढ़ जाता है या दूसरों को चिढ़ाता है। काम-क्रोध-मदान्ध हो वह कभी दूसरे की स्थिति देखता ही नहीं ।। ४२ ।। वह अत्यन्त विवेकहीन होकर अस्थि-माँसादि से निर्मित, कटे हुए मण्डूक उदर के समान स्त्री शरीर के अवयव-विशेषों में आसक्त हो जाता है। और कामबाणों से क्षुब्ध उसका मन ही उसे निरन्तर पीड़ा देता रहता है ।।४३।।

अस्थिमांसशिरात्वग्भ्यः किमन्यद्वर्तते वपुः ।
वामानां मायया मूढो न किंचिद्वीक्षते जगत् ।। ४४ ।।
निर्गते प्राणपवने देहो हंत मृगीदृशः ।
यथा हि जायते नैव वीक्ष्यते पञ्चषैर्दिनैः ।। ४५ ।।
महापरिभवस्थानं जरां प्राप्यातिदुःखितः ।
श्लेष्मणा पिहितोरस्को जग्धमन्नं न जीर्यति ।। ४६ ।।
सन्नदन्तो मन्ददृष्टिः कटुतिक्तकषायभुक् ।
वातभुग्नकटिग्रीवः करोरुचरणाबलः ।। ४७ ।।

विचार करके देखें तो इस शरीर में, हड्डी–माँस–रक्तनलिकाओं और त्वचा आदि के सिवा क्या है? परन्तु युवावस्था में काम-वासना से मोहित पुरुष को, काम भोग की सुन्दरता के सिवा और कोई सार जगत में दिखाई नहीं देता ।।४४।। वह इस विचार से सर्वथा विमुख है कि उसकी सुन्दर, मृगनयनी प्रिया के शरीर से प्राण निकल जाने पर, पाँच दिन में उस शरीर की क्या स्थिति होगी ।।४५।।

अविवेकपूर्ण यौवन के सन्तापों से छूटकर जब वह जरावस्था में प्रवेश करता है तो सब ओरसे तिरस्कार पाकर महादुःखी हो जाता है। छाती में कफ भर जाने से खाँसता रहता है। जठराग्नि के मन्द हो जाने से खाया हुआ अन्न पचता नहीं है ।।४६।। दाँतों के गिर जाने से ठीक प्रकार से खा भी नहीं सकता। आँखों की ज्योति भी मन्द पड़ जाती है, जिससे लिखना, पढ़ना आदि व्यवहार भी नहीं होता। अपनी कमजोरियों को दूर करने की आशा में वह निरन्तर कटु-तिक्त औषधियों का सेवन करता रहता है। वात से कमर और गर्दन झुक जाती हैं। हाथ, जाँघ और पैरों में अति दुर्बलता आ जाती है, उठने, बैठने, चलने और डण्डा पकड़ने आदि में भी कष्ट होता है ।।४७।।

गदायुतसमाविष्टः परित्यक्तः स्वबन्धुभिः ।
निःशौचो मलदिग्धाङ्ग आलिङ्गितवरोषितः ।। ४८ ।।
ध्यायन्नसुलभान्भोगान् केवलं वर्ततेऽचलः ।
सर्वेन्द्रियक्रियालोपाद्धास्यते बालकैरपि ।। ४९ ।।
ततो मृतिजदुःखस्य दृष्टान्तो नोपलभ्यते ।
यस्माद्बिभ्यति भूतानि प्राप्तान्यपि परारुजम् ।।५०।।
नीयते मृत्युना जन्तुः परिष्वक्तोऽपि बन्धुभिः ।
सागरान्तर्जलगतो गरुडेनेव पन्नगः ।। ५१ ।।

हजारों रोग उसे घेर लेते हैं और उसी समय जब कि सहायता की आवश्यकता होती है उसके बन्धु, मित्रादि स्वजन संग छोड़ देते हैं । शौच विधि के पालन में असमर्थ होने से उसके सभी अंग मल से भरे रहते हैं । सारे शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं ।।४८।। इस अवस्था को देखकर छोटे बालक भी उसकी हँसी उड़ाते हैं । सभी इन्द्रिय–क्रिया लुप्त हो जाने से चुपचाप एक जगह गति हीन होकर पड़ा पड़ा उन शब्दादि विषय भोगों का चिन्तन करता रहता है जो उसके लिये असुलभ हो गये हैं (महान आश्चर्य है कि जीव उस परिस्थिति में भी विषयों से विरति पूर्वक शिवरति में संलग्न नहीं होता!) ।।४९।।

जरा के अन्त में आनेवाले मृत्युजनित दुःख के वर्णन के लिये तो संसार में कोई दृष्टान्त मिलना भी कठिन है । महान दुःखप्रद असाध्य रोग या दरिद्रता से पीड़ित पुरुष भी मृत्यु से डरता है और बचना चाहता है क्योंकि वह उससे भी भीषण है ।।५०।। समस्त बन्धु-बान्धवों से घिरे पुरुष के जीव को भी अनायास ही मृत्यु अपने समय में आकर हर लेती है जैसे समुद्र की अथाह जल-राशि में छिपे सर्प को पक्षि-राज गरुड़ उठाकर ले जाता है ।।५१।।

हा कान्ते हा धनं पुत्राः क्रन्दमानः सुदारुणम् ।
मण्डूक इव सर्पेण मृत्युना नीयते नरः ॥ ५२ ॥
मर्मसून्मथ्यमानेषु मुच्यमाणेषु संधिषु ।
यद्दुःखं म्रियमाणस्य स्मर्यतां तन्मुमुक्षुभिः ॥ ५३ ॥
दृष्टावाक्षिप्यमाणायां संज्ञया ह्रियमाणया ।
मृत्युपाशेन बद्धस्य त्राता नैवोपलभ्यते ॥ ५४ ॥
संरुध्यमानस्तमसा महच्चित्तमिवाविशन् ।
उपाहूतस्तदा ज्ञातीनीक्षते दीनचक्षुषा ॥ ५५ ॥

जैसे सर्प के द्वारा पकड़े जाने पर उसका भक्ष्य मेंढक दीन स्वर में 'टर्र' 'टर्र'की आवाज करता है उसी प्रकार मृत्यु के मुँह में पड़ा नर, "हा! मेरी प्रिया स्त्री, हा! मेरे बेटे, हा! मेरा धन" कहते हुए, बुरी तरह से चिल्लाने लगता है ॥ ५२ ॥ जब प्राणवायु देह के मर्मस्थानों का मन्थन करके और हाथ-पैर आदि की सन्धियों को भेद कर निकलता है, उस समय म्रियमाण के द्वारा अनुभूत महान दुःख को मुमुक्षु पुरुष याद करें, क्योंकि मुमुक्षुता में तीव्रता लाने का यह एक श्रेष्ठ उपाय है ॥५३॥

यम-दूतों को देखकर जब दृष्टि स्तब्ध रह जाती है और तात्कालिक यातना द्वारा प्रज्ञा हर ली जाती है, उस समय मृत्यु-पाश से बद्ध जीव की रक्षा करनेवाला कोई नहीं रहता ॥५४॥ मृत्यु-क्षण में एक घोर अन्धकार का अवरोध पहाड़ की तरह सामने खड़ा होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मन अपने कारण में या महाशून्य में विलीन हो रहा है। इस अवस्था को देखकर उसकी जाति के बन्धु-वर्ग उसका नाम लेकर जोर जोर से पुकारते हैं। तनिक उस आवाज को ग्रहण करता हुआ वह मुमूर्षु उन बन्धुओं की ओर दीनतापूर्ण नेत्रों से देखता है — न कुछ बोल पाता है, न कुछ करने में ही समर्थ होता है ॥५५॥

अयःपाशेन कालेन स्नेहपाशेन बन्धुभिः ।
आत्मानं कृष्यमाणं तं वीक्षते परितस्तथा ।। ५६ ।।
हिक्कया बाध्यमानस्य श्वासेन परिशुष्यतः ।
मृत्युनाकृष्यमाणस्य न खल्वस्ति परायणम् ।। ५७ ।।
संसारयन्त्रमारूढो यमदूतैरधिष्ठितः ।
क्व यास्यामीति दुःखार्तः कालपाशेन योजितः ।।५८।।
किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।
इतिकर्तव्यतामूढः कृच्छ्राद् देहात् त्यजत्यसून् ।। ५९ ।।
यातनादेहसंबद्धो यमदूतैरधिष्ठितः ।
इतो गत्वानुभवति या यास्ता यमयातनाः ।। ६० ।।

एक ओर काल-रूपी लौह पाश से और दूसरी ओर बन्धुजनों के स्नेह रूपी दृढ़ बन्धन से खिचा हुआ जीव सहायता के लिये चारों ओर दृष्टिपात करता है ।।५६।। परन्तु हिचकियों से जिसका कण्ठ अवरुद्ध है एवं उखड़नेवाली श्वासों से अन्तःस्थल बिलकुल सूख रहा है, मृत्यु से आकृष्ट ऐसे मनुष्य की वास्तव में कोई सहायता या रक्षा नहीं कर सकता है ।।५७।। परलोक यात्रा के लिये धमकियाँ देते हुए यम-दूत उसे संसार—काल—चक्र रथ पर आरूढ़ होने के लिये बाध्य कर देते हैं । उस समय कालपाश में बँधा हुआ वह दुःखी होकर, "मुझे ये कहाँ ले जा रहे हैं? मैं कैसे जाऊँगा? बन्धुजनों को कैसे छोड़ूं? क्या लेकर चलूं? मैं क्या करूँ?" ऐसा सोचते हुए कर्त्तव्यमूढ़ होकर अत्यन्त पीड़ा के कारण देह के साथ का प्राण-बन्धन छोड़ देता है ।।५८-५९।।

उसी समय वह यातना-शरीर के साथ सम्बद्ध हो जाता है। उसको चलाते हुए यमलोक ले जाकर यमदूत उसे जो नारकीय यातना दिलाते हैं, उस दुःख का वर्णन कौन कर सकता है? कपूर—केसर—मिश्रित चन्दनादि के लेपों से जिस को प्रतिदिन सुगन्धित किया था, विचित्र आभूषणों एवं वस्त्रों से, अलंकृत किया था

तासु यल्लभते दुःखं तद्वक्तुं क्षमते कुतः ।
कर्पूरचन्दनाद्यैस्तु लिप्यते सततं हि यत् ।। ६१ ।।
भूषणैर्भूष्यते चित्रैः सुवस्त्रैः परिधाय्यते ।
अस्पृश्यं जायतेऽप्रेक्ष्यं जीवत्यक्तं सदा वपुः ।। ६२ ।।
निष्कासयन्ति निलयात् क्षणं न स्थापयन्त्यपि ।
दह्यते च ततः काष्ठैस्तद्भस्म क्रियते क्षणात् ।। ६३ ।।
भक्ष्यते वा सृगालैश्च गृध्रकुक्कुटवायसैः ।
पुनर्न दृश्यते सोऽपि जन्मकोटिशतैरपि ।। ६४ ।।
माता पिता गुरुजनः स्वजनो ममेति
मायोपमे जगति कस्य भवेत्प्रतिज्ञा ।
एको यतो व्रजति कर्मपुरःसरोऽयं
विश्रामवृक्षसदृशः खलु जीवलोकः ।। ६५ ।।

वही शरीर मरणान्तर हमेशा के लिये अपवित्र हो जाता है। उसको देखने से घृणा होती है और स्पर्श करने पर सचैलस्नान के बिना शुद्धि नहीं होती ॥६०—६२॥

लोग उस शव को एक क्षण भी रखना उचित नहीं समझते। घर से शीघ्र ही बाहर निकाल कर श्मशान में ले जाते हैं और चिता पर रखकर जला देते हैं। क्षण मात्र में वह देह भस्म हो जाती है ॥६३॥

यदि उस शरीर को दाह संस्कार प्राप्त नहीं है तो जंगल के सियार, कुत्ते या गीधादि पक्षी उसका भक्षण कर लेते हैं। वह शरीर सर्वथा नष्ट हो जाता है और उसके बाद सौ करोड़ जन्मों में भी, कहीं भी, पुनः दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥६४॥

माया-रचित हाथी, मनुष्य, आम्र फलादि के सदृश मिथ्या-भूत जगत में कौन यह निश्चत कह सकता है कि यह मेरी माता है, पिता है, ये गुरुजन हैं और ये स्वजन हैं? इस संसार में प्रत्येक जोव अपने अपने कर्म को भोगने के लिये ही आता

सायं सायं वासवृक्षं समेताः
प्रातः प्रातस्तेन तेन प्रयान्ति ।
त्यक्त्वान्योन्यं तं च वृक्षं विहङ्गा
यद्वत्तद्वज्ज्ञातयोऽज्ञातयश्च ॥ ६६ ॥
मृतिबीजं भवेज्जन्म जन्मबीजं भवेन्मृतिः ।
घटयन्त्रवदश्रान्तो बम्भ्रमीत्यनिशं नरः ॥ ६७ ॥
गर्भे पुंसः शुक्रपाताद् यदुक्तं मरणावधि ।
तदेतस्य महाव्याधेर्मत्तो नान्योऽस्ति भेषजम् ॥६८॥

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे पिण्डोत्पत्तिकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

जाता है । यह जीव लोक तो एक विश्राम वृक्ष जैसा है ॥६५॥ प्रतिदिन पक्षियों की भिन्न-भिन्न टोली एक-एक वृक्षको अपना रात्रि भर का निवास बनाकर आश्रित रहती है । प्रातः होते ही सारी चिड़ियाँ एक दूसरेको तथा उस वृक्ष को छोड़कर उड़ जाती हैं । इसी प्रकार संसार में कुटुम्ब–परिवार का मिलना बिछुड़ना है ॥६६॥

मृत्यु ही जन्म का बीज है और पुनः मृत्यु स्वयं जन्म-बीज से उत्पन्न होती है । घटोयन्त्र की तरह जीव इस चक्र में अनवरत ऊपर–नीचे भ्रमण करता रहता है ॥ ६८ ॥

मैंने गर्भ-प्रवेश से लेकर मरण पर्यन्त एक पुरुष के देह धारण की कहानी तुम्हें सुना दी । हे राम! तुम यह समझ लेना कि जन्म-मृत्यु एक महान व्याधि है जिसके लिये महेश्वर की प्राप्ति के सिवा अन्य कोई औषधि नहीं है ॥३८॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक, शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में पिण्डोत्पत्तिकथन नामक अष्टम अध्याय संपूर्ण हुआ ।

नवमोऽध्यायः

श्रीशिव उवाच ।

देहस्वरूपं वक्ष्यामि शृणुष्वावहितो नृप
मत्तो हि जायते विश्वं मयैवैतत्प्रधार्यते ।
मय्येवेदमधिष्ठाने लीयते शुक्तिरौप्यवत् ।। १ ।।
अहं तु निर्मलः पूर्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
असंगो निरहंकारः शुद्धं ब्रह्म सनातनम् ।। २ ।।
अनाद्यविद्यायुक्तः सन् जगत्कारणतां व्रजेत् ।
अनिर्वाच्या महाविद्या त्रिगुणा परिणामिनी ।। ३ ।।

अध्याय ९

देहस्वरूप वर्णन

श्रीशिवने कहा — राजन् ! मैं अब देहस्वरूप का वर्णन करूँगा, तुम एकाग्र चित्त से सुनो ।।१।।

सबसे पहले पूर्वोक्त इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि सारा विश्व मेरे से ही उत्पन्न होता है, मेरे द्वारा ही धारण किया जाता है एवं मेरे इस अधिष्ठान रूप में ही लीन हो जाता है, जैसे सीप के 'इदं' अंश में चाँदी का भान ।।२।।

ऐसा होने पर भी मैं तो निर्मल, पूर्ण, सच्चिदानंद स्वरूप, असंग, अहंकार रहित, शुद्ध, सनातन ब्रह्म हूँ । अनादि अविद्या के योग से ही मेरे अन्दर जगत् कारणत्व धर्म का आपादन होता है । सत्–असत्, भिन्न–अभिन्न आदि शब्दों के द्वारा जिसका निर्वचन नहीं हो सकता, जो तीन गुण स्वरूपिणी है और समस्त परिणामों का मूल है वही मेरी उपाधिभूता अविद्याशक्ति है ।।३।।

रजः सत्त्वं तमश्चेति त्रिगुणाः परिकीर्तिताः ।
सत्त्वं शुक्लं समादिष्टं सुखज्ञानास्पदं नृणाम् ।। ४ ।।
दुःखास्पदं रक्तवर्णं चञ्चलं च रजो मतम् ।
तमः कृष्णं जडं प्रोक्तमुदासीनं सुखादिषु ।। ५ ।।
अतो मम समायोगाच्छक्तिः सा त्रिगुणात्मिका ।
अधिष्ठाने च मय्येव भजते विश्वरूपताम् ।। ६ ।।
शुक्तौ रजतवद् रज्जौ भुजङ्गो यद्वदेव तु ।
आकाशादीनि जायन्ते मत्तो भूतानि मायया ।। ७ ।।
तैरारब्धमिदं विश्वं देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।
पितृभ्यामशितादन्नात् षट्कोशं जायते वपुः ।। ८ ।।
स्नायवोऽस्थीनि मज्जा च जायन्ते पितृतस्तथा ।
त्वङ्मांसशोणितमिति मातृतश्च भवन्ति हि ।। ९ ।।

कपिल आदि चिन्तकों ने तीन गुणों को सत्त्व, रज, तम नामों से कहा है । सत्त्व गुण शुक्ल वर्ण प्रतीक से वर्णित है । यही मनुष्यों के सुख और ज्ञान का आश्रय है ।।४।। दुःख एवं चञ्चलता का कारण रजोगुण है जो रक्तवर्ण वाला कहा गया है । तमो गुण काले रंग में कल्पित है क्यों कि उसमें आवरणात्मक जड़ता है और वह सुख-दुखादि सभी भावों के प्रति उदास है ।।५।।

अतः इन तीन गुणों के बल से यह शक्ति मेरे संयोगवश मुझ चैतन्य को आधार बनाकर स्वयं को विश्व रूप में परिणत कर देती है ।।६।।

ठीक जैसे सीप में चाँदी और रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है वैसे ही माया के प्रभाव से मेरी सत्ता को लेकर आकाशादि महाभूतों का जन्म होता है ।।७।।

उन महा भूतों से ही ब्रह्माण्ड रूपी विश्व और पिण्डाण्ड रूपी यह शरीर भी बना । यह भौतिक देह माता पिता द्वारा

भावाः स्युः षड्विधास्तस्य मातृजाः पितृजास्तथा ।
रसजा आत्मजाः सत्त्वसंभूताः स्वात्मजास्तथा ॥१०॥
मृदवः शोणितं मेदो मज्जा प्लीहा यकृद्गुदम् ।
हृन्नाभीत्येवमाद्यास्तु भावा मातृभवा मताः ॥ ११ ॥
श्मश्रुलोमकचस्नायुशिराधमनयो नखाः ।
दशनाः शुक्रमित्यादि स्थिराः पितृसमुद्भवाः ॥ १२ ॥
शरीरोपचितिर्वर्णो वृद्धिस्तृप्तिर्बलं स्थितिः ।
अलोलुपत्वमुत्साह इत्यादि रसजं विदुः ॥ १३ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं धर्माधर्मौ च भावना ।
प्रयत्नो ज्ञानमायुश्चेन्द्रियाणीत्येवमात्मजाः ॥ १४ ॥

भक्षित भोजन से षट्कोश वाली होकर उत्पन्न होती है ॥८॥ स्नायु (नस), अस्थि (हड्डी) और मज्जा (हड्डी के भीतर का गूदा) ये तीन कोश पिता के प्रभाव से मिलते हैं। त्वचा (चमड़ी), माँस और शोणित ये तीनों कोश माता से उत्पन्न होते हैं ॥९॥

शरीर के छः प्रकार के भाव होते हैं — मातृज, पितृज, रसज, आत्मज, सत्त्वज, और स्वात्मज ॥१०॥

रक्त, मेद (माँस का सूक्ष्म रूप), मज्जा, प्लीहा (तिल्ली), यकृत्, गुदा, हृदय और नाभि आदि मृदुल भाव मातृज हैं ॥११॥ मूंछें, सिर के और बदन के बाल, नस, शिरा (रक्त की सूक्ष्म नाड़ी), धमनी (रक्त की स्थूल नाड़ी), नख, दाँत शुक्र आदि स्थिर भाव पितृज हैं ॥१२॥

शरीर का फूलना, वर्ण वृद्धि, तृप्ति, सामर्थ्य, अवयव–दृढता, अविचल भाव, उत्साह (सामर्थ्य प्रकट करने की इच्छा) आदि धातु विशेषों के कारण होने से रसज माने जाते हैं ॥१३॥

इच्छा–द्वेष, सुख–दुःख, धर्म–अधर्म एवं अन्यान्य भावनाएँ, प्रयत्न, अर्थ–प्रकाशन–शक्ति, आयु, इन्द्रियाँ — ये सब आत्मज भाव हैं ॥१४॥

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रवणं स्पर्शनं दर्शनं तथा ।
रसनं घ्राणमित्याहुः पञ्च तेषां तु गोचराः ।। १५ ।।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गंध इति क्रमात् ।
वाक्कराङ्घ्रिगुदोपस्थान्याहुः कर्मेन्द्रियाणि हि ।।१६ ।।
वचनादानगमनविसर्गरतयः क्रमात् ।
क्रियास्तेषां मनोबुद्धिरहंकारस्ततः परम् ।
अन्तःकरणमित्याहुश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ।। १७ ।।
सुखं दुःखं च विषयौ विज्ञेयौ मनसः क्रियाः ।
स्मृतिभीतिविकल्पाद्या बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ।।१८।।
अहं ममेत्यहंकारश्चित्तं चेतयते यतः ।
सत्वाख्यमन्तःकरणं गुणभेदात्त्रिधा मतम् ।। १९ ।।

इनमें से इन्द्रियों का विशेष रूपसे उल्लेख किया जाता है। इसके दो प्रकार हैं — बहिरिन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय। बहिरिन्द्रियों के पुनः दो प्रकार हैं — ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नाक ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को विषय करतो हैं। वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ।।१५–१६।। इनके क्रमशः वचन, आदान, गमन, विसर्ग और रति ये पाँच क्रियाएँ ही विषय हैं। चित्तादि चतुष्टय को अन्तःकरण (या अन्तरिन्द्रिय) कहते हैं ।।१७।। यह अन्तःकरण सुख एवं दुःख को विषय करता है। इसके अन्तर्गत मन स्मृति, भोति, संकल्प, विकल्प आदि का कारण है। बृद्धि निश्चय स्वरूपिणी है। "मैं हूँ, यह मेरा है" ऐसे अभिमान का कारण अहंकार है। अतीत के अनुभवों को भी स्मरण या संस्कार रूप से जाग्रत रखने वाला चित्त है। इस चतुर्विध वृत्ति वाले अन्तःकरण को ही 'सत्त्व' कहते हैं।

(इसके कारण होनेवाले सत्त्वज भावों का यहाँ वर्णन किया जाता है।)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः सत्त्वात्तु सात्त्विकाः ।
आस्तिक्यशुद्धिधर्मैकरुचिप्रकृतयो मताः ।। २० ।।
रजसो राजसा भावाः कामक्रोधमदादयः ।
निद्रालस्यप्रमादादि वञ्चनाद्यास्तु तामसाः ।। २१ ।।
प्रसन्नेन्द्रियतारोग्यानालस्याद्यास्तु सत्त्वजाः ।
देहो मात्रात्मकस्तस्मादादत्ते तद्गुणानिमान् ।। २२ ।।
शब्दश्रोत्रमुखरता वैचित्र्यं सूक्ष्मता धृतिः ।
बलं च गगनाद् वायोः स्पर्शं च स्पर्शनेन्द्रियम् ।।२३।।
उत्क्षेपणमवक्षेपाकुञ्चने गमनं तथा ।
प्रसारणमितीमानि पञ्च कर्माणि रूक्षताः ।। २४ ।।

यह सत्त्व, रज, तम गुण भेद से तीन प्रकार का है। आस्तिकता, बाह्य एवं आन्तरिक पवित्रता का पालन, धार्मिक प्रवृतियों में स्वाभाविक रुचि आदि सात्त्विक भावों का कारण सत्त्व गुण माना जाता है ।।१९–२०।। रजोगुण से काम, क्रोधादि राजसिक भाव एवं तमोगुण से निद्रा, आलस्य, प्रमाद, परवंचना आदि तामसिक भाव उत्पन्न होते हैं ।।२१।। इन्द्रियों की स्वच्छ व शान्त स्थिति, शरीर की नीरोगता, आलस्यका अभाव आदि विशेष गुण, सत्त्व गुण की उस विशुद्ध अवस्थामें सिद्ध होते हैं, जहाँ रजोगुण और तमोगुण का लवलेश मात्र सम्बन्ध भी नहीं है ।

प्रमातृ चैतन्य स्थूल देह के साथ, "मैं यही हूँ" इस प्रकार अध्यास करने के कारण स्थूल देह गत पंचमहाभूतों के गुणोंको भी स्वीकार कर लेता है । (इस अभिमान से जनित स्वच्छन्द भावों को ही स्वात्मज भाव कहते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है:) ।।२२।।

शब्दगुण, श्रोत्रेन्द्रिय, वक्तृत्वशक्ति, कार्यकुशलता, सूक्ष्मता, धैर्य और बल — ये आकाश से उत्पन्न होते हैं ।

वायु तत्त्व से स्पर्श गुण, स्पर्शेन्द्रिय तथा उत्क्षेपण–अवक्षेपण (ऊपर फेंकना, नीचे डालना) आकुंचन–प्रसारण (अन्दर खींचना,

प्राणापानौ तथा व्यानसमानोदानसंज्ञकान् ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनंजयः ।। २५ ।।
दशेति वायुविकृतीस्तथा गृह्णाति लाघवम् ।
तेषां मुख्यतरः प्राणो नाभेः कण्ठादधः स्थितः ।।२६।।
चरत्यसौ नासिकयोर्नाभौ हृदयपङ्कजे ।
शब्दोच्चारणनिःश्वासोच्छ्वासादेरपि कारणम् ।।२७।।
अपानस्तु गुदे मेढ्रे कटिजङ्घोदरेष्वपि ।
नाभिकन्दे वृषणयोरूरुजानुषु तिष्ठति ।। २८ ।।
तस्य मूत्रपुरीषादिविसर्गः कर्म कीर्तितम् ।
व्यानोऽक्षिश्रोत्रगुल्फेषु जिह्वाघ्राणेषु तिष्ठति ।।२९।।

बाहर फैलाना) और गमन रूप पाँच क्रियाएँ सम्भव होती हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान नामक पाँच मुख्य प्राण एवं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय कहलाने वाले पाँच उपप्राण इस प्रकार वायु के दस परिणाम तथा रूखापन और हलकापन आदि धर्म भी वायु से ही शरीरको मिलते हैं। इनमें से सबसे प्रधान प्राणवायु ही है जो नाभि और कण्ठ के बीच स्थित हुई दोनों नासिका, नाभि एवं हृदय कमल में संचरण करती है। शब्दों के उच्चारण और साँसों के अन्दर बाहर जाने में यही कारण है ।।२३–२७।।

अपान वायु तो गुदा, उपस्थ, कटि, उरू, उदर, नाभिमूल अण्डकोश और जंघादि निम्न स्थानों में रहती है ।।२८।। मलमूत्रादि का विसर्जन उसका कार्य है। व्यान वायु नेत्र, श्रोत्र, गुल्फ, जिह्वा, घ्राण आदि में स्थित है ।।२९।। कुम्भक, पूरक, रेचक आदि के द्वारा प्राणों का नियंत्रण इसी से होता है। बहत्तर हजार नाड़ियों में संचार करती हुई उष्णता के साथ समान वायु सारे शरीर में व्याप्त होती है। खाये हुए अन्न जलादि के रसों को उचित

प्राणायामधृतित्यागग्रहणाद्यस्य कर्म च ।
समानो व्याप्य निखिलं शरीरं वह्निना सह ॥३०॥
द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीरन्ध्रेषु संचरन् ।
भुक्तपीतरसान् सम्यगानयन् देहपुष्टिकृत् ॥ ३१ ॥
उदानः पादयोरास्ते हस्तयोरङ्गसंधिषु ।
कर्मास्य देहोन्नयनोत्क्रमणादि प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
त्वगादिधातूनाश्रित्य पञ्च नागादयः स्थिताः ।
उद्गारादि निमेषादि क्षुत्पिपासादिकं क्रमात् ।
तन्द्रीप्रकृतिशोकादि तेषां कर्म प्रकीर्तितम् ॥३३॥
अग्नेस्तु रोचकं रूपं दीप्ति पाकं प्रकाशताम् ।
अमर्षतीक्ष्णसूक्ष्माणामोजस्तेजश्च शूरताम् ॥ ३४ ॥

रूप एवं मात्रा में तत्तत् अवयवों में ले जाने के कारण इसका नाम 'समान' पड़ा है। उदान वायु हाथ-पैर आदि अंगों के जोड़ों में रहती है। ॥३०–३१॥ इसी के बल से शरीर अपने आप उठ कर खड़ा हो जाता है या मरण समय में जीव शरीर को छोड़कर उत्क्रमण करता है ॥३२॥ त्वचादि सप्त धातुओं में नागादि पाँच उप-प्राण आश्रित होते हैं। डकार, हिचकी, वान्तादि नाग के, निमेष-उन्मेष, कटाक्षादि कूर्म के, भूख, प्यास, छींक आदि कृकल के, अलसाना, निद्रार्थ शरीर-शैथिल्य, उबासी आदि देवदत्त के और स्वभाव से हर्ष-शोक के कारण हँसना-रोना आदि धनञ्जय के कारण ही होते हैं ॥३३॥

(द्वितीय महाभूत वायु से प्राप्त भावों के पश्चात अब अग्नि-भूत कार्य और भावों का वर्णन किया जाता है।)

चक्षुरिन्द्रिय, शरीर के रंग और प्रकाश, अन्न को पचानेवाली शक्ति, स्फूर्ति, क्रोधी स्वभाव, परिभाव की असहिष्णुता (चिढ़ने का स्वभाव), शरीर का दुबलापन, डटे रहने की ताकत, तेजस्विता,

मेधाविता तथादत्ते जलात्तु रसनं रसम् ।
शैत्यं स्नेहं द्रवं स्वेदं गात्रादिमृदुतामपि ।
भूमेर्घ्राणेन्द्रियं गन्धं स्थैर्यं धैर्यं च गौरवम् ॥३५॥
त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।
अन्नं पुंसाशितं त्रेधा जायते जठराग्निना ॥ ३६ ॥
मलः स्थविष्ठो भागः स्यान्मध्यमो मांसतां व्रजेत् ।
मनः कनिष्ठो भागः स्यात् तस्मादन्नमयं मनः ॥३७॥
अपां स्थविष्ठो मूत्रं स्यान्मध्यमो रुधिरं भवेत् ।
प्राणः कनिष्ठो भागः स्यात् तस्मात् प्राणो जलात्मकः
॥ ३८ ॥

पराक्रम, बात को मस्तिष्क में धारण करने की सामर्थ्य आदि गुण अग्नि-तत्त्व के कार्य हैं । जल-तत्त्व से रसनेन्द्रिय, छः प्रकार के स्वाद, शीतलता, चिकनाहट, खून–लार आदि की द्रवता, पसीना, हथेली आदि अवयव विशेषों की कोमलता आदि को शरीर प्राप्त करता है । घ्राणेन्द्रिय, गन्धगुण, स्थिरता, दृढ़ता, भारीपन आदि, पृथ्वी भूत से आनेवाले शरीर के भाव हैं ॥३४–३५॥

(त्वचा, खून, माँस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य—ये सप्त धातु हैं, जिनके निर्माण के विषय में निम्न विवरण जानने योग्य है ।) मनुष्य का खाया हुआ अन्न जठराग्नि के द्वारा तीन भागों में विभक्त होता है ॥३६॥ अन्न का सबसे स्थूल भाग मल बन जाता है, मध्यम से माँस बनता है और सूक्ष्म के द्वारा मन पुष्ट होता है । अतः शास्त्रों में मन को अन्नमय कहा है ॥३७॥ इसी प्रकार पिये हुए जल का स्थूल भाग मूत्र रूप से बाहर निकल जाता है, मध्यम खून में चला जाता है और सूक्ष्मांश से प्राण को बल मिलता है । इस कारण से प्राण जलात्मक है ॥३८॥ घी, तैलादि तैजस भक्ष्य पदार्थों के स्थूलांश से हड्डी व

तेजसोऽस्थि स्थविष्ठः स्यान्मज्जा मध्यसमुद्भवः ।
कनिष्ठा वाङ्मता तस्मात् तेजोऽबन्नात्मकं जगत् ।।३९।।
लोहिताज्जायते मांसं मेदो मांससमुद्भवम्।
मेदसोऽस्थीनि जायन्ते मज्जा चास्थिसमुद्भवा ।।४०।।
नाड्योपि मांससंघाताच्छुक्रं मज्जासमुद्भवम् ।
वातपित्तकफाश्चात्र धातवः परिकीर्तिताः ।। ४१ ।।
दशाञ्जलि जलं ज्ञेयं रसस्याञ्जलयो नव ।
रक्तस्याष्टौ पुरीषस्य सप्त स्युः श्लेष्मणश्च षट्
।। ४२ ।।
पित्तस्य पञ्च चत्वारो मूत्रस्याञ्जलयस्त्रयः ।
वसाया मेदसो द्वौ तु मज्जा त्वञ्जलिसंमितः ।
अर्धाञ्जलिस्तथा शुक्रं तदेव बलमुच्यते ।। ४३ ।।

मध्यम से मज्जा बनती है । उसका सूक्ष्मांश वाणी को प्रभावित करता है । इस प्रकार सारा विश्व अन्न–जल–तेज स्वरूप ही सिद्ध होता है ।।३९।। धातुओं के परिणाम में खून से माँस, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य–ऐसा क्रम जानना चाहिये । माँस संघात से ही नाड़ी-समूह भी निर्मित होता है । इनके अतिरिक्त वात, पित्त, कफ तीन प्रधान तत्त्व भी शरीरविज्ञान वाले मानते हैं ।।४०–४१।।

शरीर के अन्दर जल का परिमाण दस अञ्जलि मान लें तो उसकी तुलना में परिपक्व अन्न के रस की नौ, रक्त की आठ, मल की सात, कफ की छः, पित्त की पाँच, मूत्र की चार, शिरा की तीन, मेद की दो और मज्जा की एक अञ्जलि होती है । आधी अञ्जलि वाले शुक्र या वीर्य को शास्त्रों में बल शब्द से भी कहा गया है । अतः यह शरीर में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है ।।४२–४३।।

अस्थ्नां शरीरे संख्या स्यात् षष्टियुक्तं शतत्रयम् ।
जलजानि कपालानि रुचकास्तरणानि च ।
नलकानीति तान्याहुः पञ्चधास्थीनि सूरयः ।। ४४ ।।
द्वे शते त्वस्थिसंधीनां स्यातां तत्र दशोत्तरे ।
रौरवाः प्रसरास्कन्धसेचनाः स्युरुलूखलाः ।। ४५ ।।
समुद्गा मण्डकाः शंखावर्ता वायसतुण्डकाः ।
इत्यष्टधा समुद्दिष्टाः शरीरेष्वस्थिसंधयः ।। ४६ ।।
सार्धकोटित्रयं रोम्णां श्मश्रुकेशास्त्रिलक्षकाः ।
देहस्वरूपमेवं ते प्रोक्तं दशरथात्मज ।। ४७ ।।
तस्मादसारो नास्त्येव पदार्थो भुवनत्रये ।
देहेऽस्मिन्नभिमानेन न महोपायबुद्धयः ।। ४८ ।।

देह में तीनसौ साठ हड्डियाँ हैं । उनके पाँच भेदों को बुद्धिमान लोग जलज, कपाल, रुचक, तरण और नलक नामों से पहचानते हैं । अस्थि संधियों की संख्या दोसौ दस है । इनके रौरव, प्रसर, स्कन्धसेचन, उलूखल, समुद्र, मंडक, शंखावर्त और वायसतुण्डक नामक अष्ट भेद प्रसिद्ध हैं ।।४५–४६।। शरीर में तीन करोड़ त्रेपन लाख बाल होते हैं । हे दशरथनन्दन! इस प्रकार देह स्वरूप का सांगोपांग वर्णन किया गया है ।।४७।।

इस विवरण के द्वारा स्पष्ट विदित होता है कि इससे बढ़कर सारहीन और निकृष्ट पदार्थ तीनों लोकों में भी नहीं मिलने का । इस शरीर में "यह मैं हूँ" या "यह मेरा है" ऐसा अहंकार या अभिमान करके मनुष्य पाप मार्ग में ही लगा रहता है, मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ के लिये प्रयत्न नहीं करता । "मोक्ष का क्या उपाय है?" इस प्रकार सोचता तक नहीं । यह बड़े आश्चर्य और खेद का विषय है । अतः इस देहस्वरूप

अहंकारेण पापेन क्रियन्ते हंत सांप्रतम् ।
तस्मादेतत्स्वरूपं तु विबोद्धव्यं मनीषिणा ।। ४९ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे देहस्वरूपनिर्णयो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

को सम्यक् रूप से समझना सभी विचारवान पुरुषों के लिये अति आवश्यक है ॥४८–४९॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक, शिवगीता-उपनिषद् शास्त्र में शरीर निरूपण नामक नवम अध्याय संपूर्ण हुआ ।

दशमोऽध्यायः

श्रीराम उवाच ।

भगवन् कुत्र जीवोऽसौ जन्तोर्देहेऽवतिष्ठते ।
जायते वा कुतो जीवः स्वरूपं चास्य किं वद ॥ १ ॥
देहान्ते कुत्र वा याति गत्वा वा कुत्र तिष्ठति ।
कथमायाति वा देहं पुनर्नायाति वा वद ॥ २ ॥

श्रीशिव उवाच ।

साधु पृष्टं महाभाग गुह्याद्गुह्यतरं हि यत् ।
देवैरपि सुदुर्ज्ञेयमिन्द्राद्यैर्वा महर्षिभिः ॥ ३ ॥

अध्याय १०

जीवस्वरूप वर्णन

श्रीरामने कहा — भगवन्! आप के द्वारा वर्णित इस भौतिक शरीर के अन्दर प्राणी की आत्मा (जीवात्मा) कहाँ रहती है? कहाँ से आती है और उसका स्वरूप क्या है? ॥१॥ वर्तमान देह के विलय के बाद वह जीव कहाँ जाता है? वहाँ उसकी स्थिति कैसी होती है? पुनः देह प्राप्ति होती है कि नहीं? इन सब विषयों में मुझे संशय है, अतः कृपा कर के अपने वचनों से संशय को दूर कीजिये ॥ २॥

श्रीशिवने कहा — महाभाग राम! तुम्हारा यह प्रश्न उत्तम और कल्याणकारी है। साथ ही अणुविज्ञानादि गूढ़ विषयों से भी अधिक गूढ़ है। इन्द्रादि देव तथा नारदादि महर्षि भी अत्यन्त कठिनाई से इसे जान पाते हैं ॥३॥

अन्यस्मै नैव वक्तव्यं मयापि रघुनन्दन ।
त्वद्भक्त्याहं परं प्रीतो वक्ष्याम्यवहितः शृणु ॥ ४ ॥
सत्यज्ञानात्मकोऽनन्तः परमानन्दविग्रहः ।
परमात्मा परंज्योतिरव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ ५ ॥
नित्यो विशुद्धः सर्वात्मा निर्लेपोऽहं निरञ्जनः ।
सर्वधर्मविहीनश्च न ग्राह्यो मनसापि च ॥ ६ ॥
नाहं सर्वेन्द्रियग्राह्यः सर्वेषां ग्राहको ह्यहम् ।
ज्ञाताहं सर्वलोकस्य मम ज्ञाता न विद्यते ।
दूरः सर्वविकाराणां परमाण्वादिकस्य च ॥ ७ ॥

हे रघुनन्दन! इस सूक्ष्म व दुर्लभ ज्ञान को मेरे द्वारा प्राप्त कर के तुम अन्य किसी भी अनधिकारी पुरुष के लिये इसे व्यक्त न करना । मैं भी इस विषय का उद्घाटन अन्य के प्रति नहीं करता हूँ किन्तु मेरे प्रति तुम्हारी दृढ़ भक्ति से सन्तुष्ट होकर मैं तुम्हें इस आत्मज्ञान का उपदेश करूँगा, सावधान होकर सुनो ॥४॥

मैं सत्य–ज्ञान–स्वरूप, अनन्त, परमानन्द–विग्रह, परमात्मा, परंज्योति और समस्त व्यक्त–कार्य–जगत का अव्यक्त कारण हूँ ॥५॥ सर्वस्वरूप होते हुए भी मैं सारे पुण्य-पापादि के लेप से वर्जित, अविद्या रहित और नित्य विशुद्ध सत्तावाला हूँ । जाति, क्रिया, गुण आदि सभी धर्मों का मुझ में अभाव होने से मन से भी मेरा ग्रहण नहीं हो सकता ॥६॥ वाणी आदि कोई भी इन्द्रिय मुझे विषय करने में समर्थ नहीं, क्योंकि मैं ही सबका अनुग्राहक हूँ । उन इन्द्रियों के द्वारा मैं ही समस्त लोक को जानता हूँ, मुझे जाननेवाला कोई नहीं । परमाणु आदि अविद्या के परिणामों से मैं दूर हूँ ॥७॥ मन आदि अन्तःकरण एवं वाणी आदि बहिःकरण जिसको विषय करने के प्रयत्न में असफल होते हैं, उस मुझ आनन्द स्वरूप ब्रह्म को अहं रूपेण जानकर ज्ञानी भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥८॥ जो अखण्ड ब्रह्म में ही अध्यस्त रूप से

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्म मां ज्ञात्वा न बिभेति कुतश्च न ॥८॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि मय्येवेति प्रपश्यति ।
मां च सर्वेषु भूतेषु ततो न विजुगुप्सते ॥ ९ ॥
यत्र सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
को मोहस्तत्र कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥१०॥
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥११॥
अनाद्यविद्यया युक्तस्तथाप्येकोऽहमव्ययः ।
अव्याकृतब्रह्मरूपो जगत्कर्ताहमीश्वरः ॥ १२ ॥

सारे प्रपञ्च को और सारे भूतों में सत्ता और स्फूर्ति रूप से मुझ को देखता है वह ज्ञानी उस ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर राग-द्वेष-घृणादि संसारी भावों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है ॥९॥ जब ज्ञानी समस्त प्राणियों को अपना ही आत्मरूप देखता है उस अवस्था में एकत्व की दृढ़ अनुभूति के कारण शोक-मोह हो ही कैसे सकता है ॥१०॥

(इस प्रकार सबको अपने परिज्ञान मात्र से मुक्त करने वाला) यह सच्चिदानंद परब्रह्म सारे भूतों में आत्मरूप से निहित रहता है, फिर भी अविद्या माया के कारण इसकी पहचान सहसा नहीं होती। पर शास्त्र एवं आचार्य—उपदेश से संस्कृत बुद्धि को उपासना के द्वारा एकाग्र और सूक्ष्म करनेवाले तत्त्वदर्शी, अन्तर्मुखी साधक इसका साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाते हैं ॥११॥ मैं एक अपरिणामी निर्विकल्प ब्रह्म होते हुए भी अनादि अविद्या रूपी अपनी शक्ति से अनेकरूप जगत-परिणाम का कारण बन जाता हूँ और ईश्वर कहलाता हूँ ॥१२॥

ज्ञानमात्रे यथा दृश्यमिदं स्वप्ने जगत्रयम् ।
तद्वन्मयि जगत्सर्वं दृश्यतेऽस्ति विलीयते ।
नानाविद्यासमायुक्तो जीवत्वेन वसाम्यहम् ।। १३ ।।
पञ्च कर्मेन्द्रियाण्येव पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च ।
मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ।। १४ ।।
वायवः पञ्च मिलिता यान्ति लिङ्गशरीरताम् ।
तत्राविद्यासमायुक्तं चैतन्यं प्रतिबिम्बितम् ।। १५ ।।
व्यावहारिकजीवस्तु क्षेत्रज्ञः पुरुषोऽपि वा ।
स एव जगतां भोक्ताऽनाद्ययोः पुण्यपापयोः ।
इहामुत्र गतिस्तस्य जाग्रत्स्वप्नादिभोक्तृता ।। १६ ।।

जैसे निद्राग्रस्त स्वप्न द्रष्टा अपनी ज्ञान दृष्टि से ही स्वप्न में त्रैलोक्य खड़ा करके अनुभव कर लेता है, उसी प्रकार अविद्या के सम्बन्ध से मुझ में जगत का दर्शन और लय होता रहता है। इसी अविद्या की विविधता को स्वीकार करके शरीरमें मैं स्वयं जीव रूप से रहता हूँ ॥१३॥

(देह में जीव की अभिव्यक्ति कैसे होती है, इस रहस्य को मैं कहता हूँ) पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-अहंकार –चित्तवाला अन्तःकरण चतुष्टय और पाँच मुख्य प्राण मिलकर लिंगशरीर बनता है। उसी में अविद्या उपाधि से घिरे हुए चैतन्य का प्रतिबिम्बवत् आभास होता है ॥१४–१५॥ लिंगशरीराविष्ट इस चिदाभास को ही व्यावहारिक जीव, क्षेत्रज्ञ या पुरुष कहते हैं। यही अनादि काल से अर्जित पाप-पुण्य के फल का भोक्ता है। इस भोग के लिये ही वह इस शरीर में जाग्रत-स्वप्नादि अवस्थाओं में घूमता है। ओर भोग के अयोग्य हो जाने पर इस शरीर को छोड़कर परलोक में (या दूसरे शरीर में) गमन करता है ॥१६॥

यथा दर्पणकालिम्ना मलिनं दृश्यते मुखम् ।
तद्वदन्तःकरणगैर्दोषैरात्मापि दृश्यते ॥ १७ ॥
परस्पराध्यासवशात् स्यादन्तःकरणात्मनोः ।
एकीभावाभिमानेन परात्मा दुःखभागिव ॥ १८ ॥
मरुभूमौ जलत्वेन मध्याह्नार्कमरीचिकाः ।
दृश्यन्ते मूढचित्तस्य न ह्यार्द्रास्तापकारकाः ॥ १९ ॥
तद्वदात्मापि निर्लेपो दृश्यते मूढचेतसाम् ।
स्वाविद्याख्यात्मदोषेण कर्तृत्वादिकधर्मवान् ॥ २० ॥
तत्र चान्नमये पिण्डे हृदि जीवोऽवतिष्ठते ।
आनखाग्रं व्याप्य देहं तद्ब्रुवेऽवहितः शृणु ॥ २१ ॥

जैसे दर्पण के ऊपर की कालिमा से वहाँ दिखनेवाला मुख कलुषित प्रतीत होता है उसी प्रकार अन्तःकरण के दोषों के कारण आत्मा भी दूषित प्रतीत होती है ॥१७॥ अन्तःकरण और आत्मा के परस्पर अध्यास के कारण, दोनों में एकी भाव का अभिमान होने से अन्तःकरण की जड़ता में स्वयं ज्योति चैतन्य का भ्रम और चैतन्य में सुखदुःख धर्म वाले अन्तःकरण का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अतः परमात्मा भी दुःखी बना हुआ सा पड़ा रहता है ॥१८॥ अविवेकी की दृष्टि में यद्यपि मरुभूमि में मध्याह्न सूर्य का प्रकाश ही जल की तरह दिखाई देता है, परन्तु उस समय सूर्य की किरणों में नाम मात्र का भी गीलापन नहीं है, इसके विपरीत वे अत्यन्त ताप देनेवाली ही सिद्ध होती हैं ॥१९॥ उसी प्रकार मूढ़ की अनुभूति में, अपने ही अविद्या दोष के कारण, निर्लिप्त आत्मचैतन्य भी कर्त्ता-भोक्तादि धर्मों से युक्त प्रतीत होता है ॥२०॥

इस अन्नमय मांस-पिण्ड शरीर के अन्दर हृदय स्थान में जीव की स्थिति है। वहीं स्थित हुआ वह नख-शिख पर्यन्त सम्पूर्ण देह को किस प्रकार व्याप्त करता है — मैं यह कहूँगा, एकाग्रता से सुनो ॥२१

पुरीतदभिधानेन मांसपिण्डो विराजते ।
नाभेरूर्ध्वमधःकण्ठाद्व्याप्य तिष्ठति यः सदा ।। २२ ।।
तस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत् ।
अधोमुखं च तत्रास्ति सूक्ष्मं सुषिरमुत्तमम् ।
दहराकाशमित्युक्तं तत्र जीवोऽवतिष्ठते ।। २३ ।।
वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।। २४ ।।
कदम्बकुसुमोद्बुद्धकेसरा इव सर्वतः ।
प्रसृता हृदयान्नाड्यो याभिर्व्याप्तं शरीरकम् ।। २५ ।।

नाभि और कण्ठ के बीच एक माँसमय विशेष पिण्ड है जिसे पुरीतत् कहते हैं। उसके मध्य भाग में नाल सहित अधोमुख पद्म कली जैसी आकृति वाला हृदय स्थान है । हृदय के भीतर बहुत सूक्ष्म शुद्ध, सत्त्वमय आकाश (पोल) है, जिसका शास्त्रों में 'दहराकाश' नाम से उल्लेख है । इसी में जीव-चैतन्य हमेशा व्याप्त रहता है ॥२२-२३॥

बाल के अग्र भाग को चीर कर शतांश को लेकर फिर उसका भी शतांश करें और इस प्रकार सौ बार करने के बाद बाल का जो सूक्ष्म परिमाण होगा उतनी ही सूक्ष्म जीव की स्थिति समझनी चाहिये । परन्तु इसी सूक्ष्म तत्त्व की स्वरूपतया पहचान अनन्तत्व प्राप्ति का साधन बनती है ॥२४॥

प्रफुल्लित कदम्ब-पुष्प के मध्य में से निकली हुई केसर जैसी हृदय-प्रदेश से नाड़ियाँ पूरे शरीर में फैली हुई हैं ॥२५॥ हित करने वाले कर्मभोग रूपी कर्मफल प्राप्ति का साधन होने से इन नाड़ियों को 'हिता' कहते हैं । योग द्वारा प्राप्त सूक्ष्म दृष्टि वाले विद्वानों के अनुसार इन नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार

हितं फलं प्रयच्छन्ति यस्मात्तेन हिताः स्मृताः ।
द्वासप्ततिसहस्त्रैस्ताः संख्याता योगवित्तमैः ॥ २६ ॥
हृदयात्तास्तु निष्क्रान्ता यथार्काद् रश्मयस्तथा ।
एकोत्तरशतं तासु मुख्या विष्वग्विनिर्गताः ॥२७॥
प्रतीन्द्रियं दश दश निर्गता विषयोन्मुखाः ।
नाडचः कर्मादिहेतूत्थाः स्वप्नादिफलभुक्तये ॥२८॥
वहन्त्यम्भो यथा नद्यो नाडचः कर्मफलं तथा ।
अनन्तैकोर्ध्वगा नाडी मूर्धपर्यन्तमञ्जसा ॥ २९ ॥
सुषुम्नेति समादिष्टा तया गच्छन्विमुच्यते ।
तत्रावस्थितचैतन्यं जीवात्मानं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥

है ॥२६॥ सूर्य मण्डल से चारों ओर विकीर्ण होनेवाली किरणों की भाँति हृदय से निकलने वाली इन नाड़ियों में एक सौ एक मुख्य हैं जिनकी गति सर्वशरीरव्यापी है ॥२७॥

प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा विषय प्रतीति के लिये दस नाड़ियाँ निर्मित हैं । इस प्रकार दस इन्द्रियों के साथ सम्बन्धित सौ नाड़ियों के द्वारा जीव प्रारब्ध कर्म से प्रेरित तत्तत् कर्मभोगों को जाग्रत, स्वप्नादि अवस्थाओं में प्राप्त करने के लिये विषयोन्मुखी होता है ॥२८॥

जैसे नदी अपने उद्‌गम स्थान की जल-राशि को, कृषि आदि कार्यों के लिये सुदूर देशों में पहुँचाती है, उसी प्रकार पूर्वकर्मों की भोगराशि को नाड़ियाँ जीव की अनुभूति के क्षेत्रों में प्राप्त कराती हैं । इनमें से 'अनन्ता' नामक एक ही नाड़ी ऐसी है जो मूर्धा-पर्यन्त सीधी गति से गई हुई है । शास्त्रों में यह सुषुम्ना नाम से भी विख्यात है । जीव भाव में स्थित हुआ चैतन्य जब योगाभ्यास आदि के प्रभाव से इस नाड़ी के द्वारा सहस्रार के स्तर तक उठता है तब अपने जीव भाव से मुक्त हो जाता है ॥२९–३०॥ अदृश्य होने पर भी राहु-ग्रह चन्द्रमण्डल को

यथा राहुरदृश्योऽपि दृश्यते चन्द्रमण्डले ।
तद्वत् सर्वगतोऽप्यात्मा लिङ्गदेहे हि दृश्यते ।३१॥
यथा घटे नीयमाने घटाकाशोऽपि नीयते ।
तद्वत् सर्वगतोऽप्यात्मा लिङ्गदेहे विनिर्गते ।
निश्चलः परिपूर्णोऽपि गच्छतीत्युपचर्यते ॥ ३२ ॥
जाग्रत्काले यथा ज्ञेयमभिव्यक्तविशेषधीः ।
व्याप्नोति निष्क्रियः सर्वान् भानुर्दश दिशो यथा ॥ ३३ ॥

ग्रस्त करते समय ग्रहण की छाया रूप से दिखाई देता है । इसी प्रकार सर्वव्यापक होने से व्यक्तित्त्व रहित चैतन्य, लिंगशरीर के साथ सम्बन्धित होने पर परिच्छिन्न व्यक्ति (अहं) रूपेण प्रतीत होता है ॥३१॥

जैसे खाली घड़े को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर घड़े के अन्दर की खाली जगह भी गमन करती हुई मालूम होती है उसी प्रकार लिंगशरीर में प्रतिबिम्ब रूप से अवच्छिन्न सा दिखाई देनेवाला आत्मचैतन्य स्वयं में अपनी परिपूर्णता के कारण चलन रहित होने पर भी उस लिंगशरीर के आने जाने से चलता हुआ सा प्रतीत होता है ॥३२॥

लिंगशरीर की वृत्तियाँ नाड़ियों द्वारा उठती हैं और कर्म के अनुसार जीव को तत्तत् भोग दिलाने के लिये जाग्रत के तत्तत् विषयों के पास पहुँचती हैं । उनके साथ आभास रूप चैतन्य भी विषय स्थल में पहुँचता है । उस समय ज्ञेय विषय के अनुरूप बुद्धि-वृत्ति में प्रतिफलित होकर वह तदाकार ज्ञान को प्रकट करता है । इस प्रकार जाग्रत काल में चैतन्य निष्क्रिय होते हुए भी समस्त ज्ञेय विषयों को व्याप्त करता है, जैसे दिन के समय सूर्य का प्रकाश दिशाओं को ॥३३-३४॥

यह लिंगशरीर मोक्ष के पूर्व कभी भी नष्ट नहीं हो पाता है । आत्मज्ञान द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर अविद्या कार्य

नाडीभिर्वृत्तयो यान्ति लिङ्गदेहसमुद्भवाः ।
तत्तत्कर्मानुसारेण जाग्रद्भोगोपलब्धये ।। ३४ ।।
इदं लिङ्गशरीराख्यमामोक्षान्न निवर्तते ।
आत्मज्ञानेन नष्टेऽस्मिन् साविद्ये स्वशरीरके ।
आत्मस्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्यभिधीयते ।। ३५ ।।
उत्पादिते घटे यद्वद् घटाकाशत्वमृच्छति ।
घटे नष्टे यथाकाशः स्वरूपेणावतिष्ठते ।। ३६ ।।
जाग्रत्कर्मक्षवयशात् स्वप्नभोग उपस्थिते ।
बोधावस्थां तिरोधाय देहाद्याश्रयलणक्षाम् ।। ३७ ।।
कर्मोद्भावितसंस्कारस्तत्र स्वप्नरिरंसया ।
अवस्थां च प्रयात्यन्यां मायावीवात्ममायया ।। ३८ ।।

लिंगशरीर का भी नाश हो जाता है। उस समय में चैतन्य का अपने सच्चिदानन्द स्वरूप मात्र में स्थित हो जाना हो मुक्ति है। घड़े के बन जाने पर अवच्छिन्न आकाश भी घटाकार को प्राप्त हो जाता है और घड़े के टूट जाने पर वह आकृति वाला आकाश नष्ट न होकर अपने अनवच्छिन्न रूप में स्थित हो जाता है। इसी प्रकार जीव की मुक्ति समझनी चाहिये ॥३५–३६॥

पूर्व कर्मानुसार जाग्रत भोग का समय समाप्त होने पर स्वप्न काल उपस्थित होता है। उस समय बाह्य विषयों के बोध के आश्रय स्थूलशरीर इन्द्रिय आदि से आत्मचैतन्य का सम्बन्ध अवरुद्ध हो जाता है। निद्राशक्ति से उद्भावित एवं कर्मानुसारी कुछ पूर्व संस्कारों को लेकर वह जीव स्वप्न की अवस्था में प्रवेश करता है, जैसे कि मायावी अपनी माया शक्ति से दिखाई देने वाले क्षेत्र में ॥३७–३८॥

वहाँ पहुँच कर स्वयंज्योतिस्वरूप चैतन्य कर्मजन्य वासनाओं का ही स्वप्नस्थ जड़ पदार्थों, विभिन्न प्राणियों एवं बुद्धि आदि इन्द्रियों के रूप में अनुभव करता है। स्वप्न में व्यवहार करते हुए भी उन

घटादिविषयान्सर्वान् बुद्ध्यादिकरणानि च ।
भूतानि कर्मवशतो वासनामात्रसंस्थितान् ।
एतान् पश्यन् स्वयंज्योतिः साक्ष्यात्मा व्यवतिष्ठते
॥ ३९ ॥

अत्रान्तःकरणादीनां वासनाद्वासनात्मता ।
वासनामात्रसाक्षित्वं तेन तत्र परात्मनः ॥ ४० ॥
वासनाभिः प्रपञ्चोऽत्र दृश्यते कर्मचोदितः ।
जाग्रद्भूमौ यथा तद्वत् कर्तृकर्मक्रियात्मकः ॥ ४१ ॥
निःशेषबुद्धिसाक्ष्यात्मा स्वयमेव प्रकाशते ।
वासनामात्रसाक्षित्वं साक्षिणः स्वाप उच्यते ॥ ४२ ॥

व्यवहार एवं दृश्य के भी साक्षी रूप में जीव स्थित है ॥३९॥ वहाँ अनुभूत अपना अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीरादि भी केवल वासना रूप होने से सत्य नहीं हैं । उनके द्वारा होने वाला व्यवहार भी वासनात्मक है, जीव की वास्तविक स्थिति नहीं है । अतः स्वप्नावस्था में परमात्मा चैतन्य वासना मात्र के साक्षी रूप से ही रहता है ॥४०॥ इसके सिवा स्वप्न और जाग्रत दृश्य में कोई भेद नहीं है। जैसे जाग्रत भूमि में कर्त्ता–कर्म–क्रिया त्रिपुटि सहित प्रपंच है वैसे ही स्वप्नावस्था में वासना रूप कर्मों का भोग उपस्थित होता है ॥४१॥

उस अवस्था में समस्त बुद्धि-वृत्तियों का साक्षी आत्मचैतन्य अपने स्वयं-प्रकाश स्वरूप का, स्वयं प्रदर्शन करता हुआ सभी लोकों को स्वयं बनाकर, स्वयं प्रकाशित कर, स्वयं भोगता है। अतः इस अवस्था को 'स्वाप' (सु + आप अथवा स्व + आप, अपने आप अच्छी तरह प्राप्त किया) कहते हैं ॥४२॥

बाल्यावस्था के प्रारंभ में विगत जन्म की सन्निकटता के कारण, जीव उस जन्म में किये कर्मों की वासना को स्वप्न में

भूतजन्मनि यद्भूतं कर्म तद्वासनावशात् ।
नेदीयस्त्वाद्वयस्याद्ये स्वप्नं प्रायः प्रपश्यति ।। ४३ ।।
मध्ये वयसि कार्कश्यात् करणानामिहार्जितात् ।
वीक्षते प्रायशः स्वप्नं वासनाकर्मणोर्वशात् ।। ४४ ।।
यियासुः परलोकं तु कर्मविद्यादिसंभृतम् ।
भाविनो जन्मनो रूपं स्वप्न आत्मा प्रपश्यति ।। ४५ ।।
यद्वत् प्रपतनाच्छ्येनः श्रान्तो गगनमण्डले ।
आकुञ्च्य पक्षौ यतते नीडे निलयनाय नीः ।। ४६ ।।
एवं जाग्रत्स्वप्नभूमौ श्रान्त आत्माभिसंचरन् ।
आपीतकरणग्रामः कारणेनैति चैकताम् ।।४७।।
नाडीमार्गैरिन्द्रियाणामाकृष्यादाय वासनाम् ।
सर्वं ग्रसित्वा कार्यं च विज्ञानात्मा प्रलीयते ।।४८।।

देखता है ।।४३।। मध्यवयस में इस जन्म में एकत्रित वासनाओं की स्पष्टता व प्रबलता होने से वे ही स्वप्न का विषय होती हैं ।।४४।। मरण के पूर्व जब परलोक यात्रा की तैयारी होने लगती है तब संचित कर्म और उपासना के बल से जीव भावी जन्म संबन्धी स्वप्न को देखने लगता है ।।४५।।

(अब जीव की सुषुप्ति नामक तीसरी अवस्था का वर्णन किया जाता है) जैसे कोई पक्षी आकाश में बहुत दूर उड़ान कर लेने के कारण श्रान्त होने पर उस श्रान्ति के निवारणार्थ पंखों को समेट कर शान्त व स्थिर बैठने योग्य नीड़ की ओर गमन करता है, वैसे ही जीवात्मा जाग्रत-स्वप्न उभय अवस्थाओं में विषय ग्रहण करते करते थक जाती है तथा अपनी इन्द्रिय-वृत्तियों को समेट कर कारणशरीर में तदाकार हो जाती है ।।४६–४७।।

विज्ञानमय-कोश वाला जीव जाग्रत-स्वप्न कार्य-जगत को आच्छादित करके उसकी वासना मात्र को साथ लेकर इन्द्रिय

ईश्वराख्येऽव्याकृतेऽथ यथा सुखमयो भवेत् ।
कृत्स्नप्रपञ्चविलयस्तथा भवति चात्मनः ॥ ४९ ॥
योषितः काम्यमानायाः संभोगान्ते यथा सुखम्
स आनन्दमयो बाह्यो नान्तरः केवलस्तथा ॥ ५० ॥
प्राज्ञात्मानं समासाद्य विज्ञानात्मा तथैव सः ।
विज्ञानात्मा कारणात्मा तथा तिष्ठन्नथापि सः ॥५१॥
अविद्यासूक्ष्मवृत्त्यानुभवत्येव सुखं यथा ।
अज्ञानमपि साक्ष्यादि वृत्तिभिश्चानुभूयते ॥ ५२ ॥
तथाहं सुखमस्वाप्सं नैव किञ्चिदवेदिषम् ।
इत्येवं प्रत्यभिज्ञापि पश्चात् तस्योपपद्यते ॥ ५३ ॥

वृत्तियों को नाड़ीमार्ग से खींचकर अज्ञानमय कोश में विलीन होता है ॥४८॥ जैसे महाप्रलय के समय में समस्त प्रपंच अव्याकृत नामवाले ईश्वर में सहसा लीन हो जाता है उसी प्रकार सुषुप्ति में जीवात्मा की स्थिति है ॥४९॥

प्रियतमा के संभोगसमय पुरुष जिस सुखमय स्तब्ध-भाव को प्राप्त करता है उसीकी भाँति इस सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा प्रचुर आनन्द का अनुभव करता हुआ आन्तरिक एवं बाह्य विषय प्रतीति से रहित केवली भाव में स्थित होता है ॥५०॥ इस अवस्था में विज्ञानात्मा जीव शास्त्रों के अनुसार 'प्राज्ञ' नाम से कहा गया है। जाग्रत आदि अवस्थाओं की भेदबुद्धि बीज रूपेण रहने पर भी दुःख प्रतीति के अभाव को लेकर इस प्राज्ञ को कारणात्मा अर्थात् ईश्वरस्वरूप मान लिया जाता है। जैसे ईश्वर अपनी माया से प्रलय का अनुभव करता है उसी प्रकार यह प्राज्ञ भी सूक्ष्म अविद्यावृत्ति के द्वारा सुषुप्ति में सुख का अनुभव करता है। उस अवस्था में वह उस अविद्या का भी साक्षीवृत्ति से (मैं इस अवस्था का साक्षी हूँ, इस प्रकार) अनुभव

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यमेवेहामुत्र लोकयोः ।
पश्चात्कर्मवशादेव विस्फुलिङ्गा यथानलात् ।
जायन्ते कारणादेव मनोबुद्ध्यादिकानि तु ॥ ५४ ॥
पयःपूर्णो घटो यद्वन् निमग्नः सलिलाशये ।
तैरेवोद्धृत आयाति विज्ञानात्मा तथैत्यजात् ॥५५॥
विज्ञानात्मा कारणात्मा तथा तिष्ठंस्तथापि सः ।
दृश्यते सत्सु तेष्वेव नष्टेष्वायात्यदृश्यताम् ॥५६॥

करता है । अतः निद्रा से जागने के बाद "मैं सुख से सोया था और कुछ भी नहीं जानता था" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होना भी उचित है ॥५१–५३॥

इस प्रकार एक दूसरे से ग्रथित जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति जाल इस लोक में जैसे सर्वत्र है, वैसा ही परलोक में भी विस्तृत है। अतः जीव का समस्त संसार-भ्रमण इन तीन अवस्थाओं में ही होता रहता है । (सुषुप्ति को मोक्ष नहीं मानना चाहिये, क्योंकि) सुषुप्ति में मन, बुद्धि आदि सभी करणों के लीन होने पर भी अवशिष्ट प्रारब्ध-कर्म-भोग के कारण सुषुप्ति समय के बाद कारणशरीर रूप अज्ञान से पुनः वे सभी करण प्रकट हो जाते हैं, जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि में से चिनगारियाँ निकलती हैं ॥५४॥ जाग्रत अवस्था में पुनः प्रकट होने वाला विज्ञानात्मा नूतन नहीं है । जैसे जलाशय में डुबो के रखने पर जलपूर्ण घट दिखाई नहीं देता और उसके अन्दर का जल जलाशय के साथ एकी भाव को प्राप्त कर लेता है परन्तु घट को ऊपर उठाने पर पुनः पूर्ववत् वही जलपूर्ण घटविशेष सिद्ध होता है; उसी प्रकार वही विज्ञानात्मा अनादि अविद्या में से निकल कर पुनः व्यवहार का विषय बनता है ॥५५॥

अविद्याकृत मन आदि उपाधि के व्यक्त होने पर विज्ञानात्मा जीव कारणात्मा ईश्वर से भिन्न दिखाई देता है। उपाधि अदृश्य

एककारोऽर्यमा तत्तत् कार्येष्विव परः पुमान् ।
कूटस्थो दृश्यते तद्वद् गच्छत्यागच्छतीव सः ॥५७॥
मोहमात्रान्तरायत्वात् सर्वं तस्योपपद्यते ।
देहाद्यतीत आत्मापि स्वयंज्योतिः स्वभावतः ।
एवं जीवस्वरूपं ते प्रोक्तं दशरथात्मज ॥ ५८ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे जीवस्वरूपकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

होने पर यह भेद भी लुप्त हो जाता है (अर्थात जोव कारणात्मा के साथ एक हो जाता है) ॥५६॥ निश्चल रूप से आकाश में स्थित सूर्य, जलाशयादि विभिन्न स्वच्छ पदार्थों के हिलने डुलने की क्रियाओं के साथ सम्बन्धित होकर, उन में हिलता डुलता प्रतीत होता है । इसी प्रकार कूटस्थ परमपुरुष भी अवस्थाओं के अन्दर आता जाता प्रतोत होता है ॥५७॥ आत्मा स्वभाव से ही देहत्रय से अतीत और स्वयंप्रकाश है परन्तु एक मात्र मोह रूप प्रतिबन्धन के द्वारा स्वरूपस्फूर्ति अवरूद्ध होने से उसका अवस्थात्रय सम्पन्न होना आदि सब संभव हो जाता है । हे दशरथ कुमार! तुम्हारे प्रश्न के उत्तर रूप में जीव स्वरूप का यह वर्णन किया गया है ॥५८॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के ऊपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवाद रूप, ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक, शिवगीता-उपनिषद् शास्त्र में जीवस्वरूपकथन नामक दशम अध्याय संपूर्ण हुआ ।

एकादशोऽध्यायः

श्रीशिव उवाच ।

देहान्तरगतिं तस्य परलोकगतिं तथा ।
वक्ष्यामि नृपशार्दूल मत्तः शृणु समाहितः ॥ १ ॥
भुक्तं पीतं यदस्त्यत्र तद्रसादामबन्धनम् ।
स्थूलदेहस्य लिङ्गस्य तेन जीवनधारणम् ॥ २ ॥
व्याधिना जरया वापि पीड्यते जाठरोऽनलः ।
श्लेष्मणा तेन भुक्तान्नं पीतं वा न पचत्यलम् ॥३॥

अध्याय ११
जीव-गति निरूपण

श्रीशिव ने कहा—राजाओं में श्रेष्ठ राम! लिंगशरीरोपाधि के कारण ही जीव एक शरीर से शरीरान्तर में एवं इस लोक से परलोक में गमन करता रहता है — इस बात का प्रतिपादन हो चुका है। अब इस जीव गति के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करता हूँ। इस रहस्यमय विषय को तुम समाहित चित्त होकर मुझसे सुनो ॥१॥

खाये पिये पदार्थों के रस से ही स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर आपस में सम्बन्धित रहते हैं। प्रतिदिन नूतन रससंचार होने से यह बन्धन नवीन व दृढ़ रहता है, जिससे शरीर में जीवन धारण संभव होता है ॥२॥ परन्तु जब व्याधि या वृद्धावस्था के कारण कफ वृद्धि होने से जठराग्नि मन्द पड़ जाती है तब भुक्त-पीत पदार्थों का पाचन पूर्ण नहीं हो पाता; इससे शरीर में रससंचार न्यून हो जाता है और शरीर की सभी धातुएँ सूखने लगती हैं। क्योंकि पञ्च-प्राण-वायु अन्नरस को लेकर ही शरीर में धातुओं का पोषण करती है।

भुक्तपीतरसाभावात् तदा शुष्यन्ति धातवः ।
भुक्तपीतरसेनैव देहे लिम्पन्ति वायवः ।। ४ ।।
समीकरोति यत्तस्मात् समानो वायुरुच्यते ।
तदानीं तद्रसाभावादामबन्धनहानितः ।। ५ ।।
परिपक्वरसत्वेन यथा गौरवतः फलम् ।
स्वयमेव पतत्याशु तथा लिङ्गं तनोर्व्रजेत् ।। ६ ।।
तत्तत् स्थानादपाकृष्य हृषीकाणां च वासनाः ।
आध्यात्मिकाधिभूतानि हृत्पद्मे चैकतां गतः ।। ७ ।।
ततोध्वगः प्राणवायुः संयुक्तो नववायुभिः ।
ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवत्येष तथा तेनैकतां गतः ।।८।।

सम्यक् रूपेण सर्वत्र रस का आदान करने से ही इस वायु विशेष को शास्त्रों में समान नाम से कहा गया है । रस के अभाव में धातुओं का पोषण न होने से स्थूल व सूक्ष्म शरीरों के नूतन बन्धनों में हानि होती है । इस के परिणाम स्वरूप, जैसे पेड़ और फल के बीच टहनी के सूख जाने पर वह फल स्वयं अपने भार से नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार स्थूल शरीर का पात होता है और लिंगशरीर उससे अलग हो जाता है ।। ३–६ ।।

उस प्रयाण समय में इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत विषयों की वासना, बुद्धि आदि करणों की आध्यात्मिक शक्ति एवं लिंगशरीर के आधारभूत सूक्ष्म महाभूत — ये तीनों तत्त्व तत्तत् स्थानों से आकृष्ट होकर हृदय कमल में एकत्रित होते हैं ।। ७ ।।

इसके अनन्तर मुख्य प्राणवायु इस लिंगशरीर के गमन के लिये उपयुक्त मार्ग का अन्वेषण करती हुई शेष नौ वायुओं को अपने साथ लेकर ऊपर की ओर चलने लगती है । जीव भी उस समय प्राण के साथ अध्यास वश एक हो जाता है ।। ८ ।। पूर्वकाल में की हुई उपासना और कर्म के फल तथा

चक्षुषो वाथ मूर्ध्नो वा नाडीमार्गं समाश्रितः ।
विद्याकर्मसमायुक्तो वासनाभिश्च संयुतः ।। ९ ।।

प्राज्ञात्मानं समाश्रित्य विज्ञानात्मोपसर्पति ।
यथा कुम्भो नीयमानो देशाद्देशान्तरं प्रति ।। १० ।।

खपूर्ण एव सर्वत्र स आकाशोऽपि तत्र तु ।
घटाकाशाख्यतां याति तद्वल्लिङ्गं परात्मनः ।। ११ ।।

पुनर्देहान्तरं याति यथा कर्मानुसारतः ।
आमोक्षात् संचरत्येवं मत्स्यः कूलद्वयं यथा ।। १२ ।।

पापभोगाय चेद् गच्छेद् यमदूतैरधिष्ठितः ।
यातनादेहमाश्रित्य नरकानेव केवलम् ।। १३ ।।

विषयानुभवों की भावना से संयुक्त यह विज्ञानात्मा, कारण शरीर में स्थित ईश्वरचैतन्य की प्रेरणा से किसी भी नाड़ीमार्ग का आश्रय लेकर, चक्षु या मूर्द्धा आदि किसी भी छिद्र द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है । जैसे खाली घड़ा देश-देशान्तर में ले जाये जाने पर पूर्ववत् आकाश से भरा ही रहता है एवं उस घड़े के गमन से निश्चल आकाश भी गमन करता हुआ सा (" घटाकाश वहाँ से यहाँ आ गया "–ऐसा) प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमात्म-स्वरूप जीवचैतन्य का भी लिंग-उपाधि के अनुसार गमन सिद्ध होता है ।। ९–११ ।। ऊपर कहे गये क्रम से पूर्व कर्मानुसार यह जीव देह से देहान्तर को प्राप्त करता हुआ जन्म-मरण कूल द्वय के बीच में मत्स्य की तरह संसार प्रवाह के अन्दर मोक्ष पर्यन्त संचार करता रहता है ।। १२ ।।

यदि पापकर्म का भोग उदय हुआ है तो स्थूल शरीर से निर्गत होने पर इस जीव को यमदूत आकर घेरके यातनादेहविशेष में बैठाकर सीधे नरक लोक ले जाते हैं ।। १३ ।। यदि पिछले

इष्टापूर्तादिकर्माणि योऽनुतिष्ठति सर्वदा ।
पितृलोकं व्रजत्येष धूममाश्रित्य बर्हिषः ॥ १४ ॥
धूमाद्रात्रिं ततः कृष्णपक्षस्तस्माच्च दक्षिणम् ।
अयनं च ततो लोकं पितृणां च ततः परम् ॥ १५ ॥
चन्द्रलोके दिव्यदेहं प्राप्य भुङ्क्ते परां श्रियम् ।
तत्र चन्द्रसमानोसौ यावत्कर्मफलं वसेत् ।
तथैव कर्मशेषेण यथैतं पुनराव्रजेत् ॥ १६ ॥
वपुर्विहाय जीवत्वमासाद्याकाशमेति सः ।
आकाशाद्वायुमागत्य वायोरम्भो व्रजत्यथ ॥१७॥
अद्भ्यो मेघं समासाद्य ततो वृष्टिर्भवेदसौ ।
ततो धान्यानि भक्ष्याणि जायते कर्मचोदितः ॥ १८ ॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ १९ ॥

जन्मों में इष्ट (यागादि) और पूर्त (धर्मशाला निर्माणादि) शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान हमेशा करता रहा हो तो वह जीव, शरीर पात के पश्चात कर्माग्नि से निर्मित धूममार्ग का आश्रय ले पितृलोक चला जाता है ॥ १४ ॥ वह मार्ग इस प्रकार है :— धूमलोक, रात्रिलोक, कृष्णपक्षाभिमानी देव का लोक तथा दक्षिणायनाभिमानी देव का लोक । इनको क्रमशः पार करने पर जीव पितृलोक में आता है ॥ १५ ॥ उसी को चन्द्रलोक कहते हैं । वहाँ चन्द्र के समान दिव्य देह प्राप्त करके अति उत्तम ऐश्वर्य का भोग करते हुए जीव पुण्यकर्म फलों की अवधि तक रहता है । कर्मफल क्षय होने पर जिस मार्ग से गया था उसी से मृत्युलोक में लौट आता है ॥१६॥ दिव्य शरीर छूटने पर वह आकाश, वायु एवं जलमण्डलों में क्रमशः प्रवेश करके फिर बादल से सम्बन्धित हुआ वृष्टि के साथ पृथ्वी में प्रविष्ट होकर फिर कर्म की प्रेरणा से वहाँ उत्पन्न होने वाले अन्न

ततोऽन्नत्वं समासाद्य पितृभ्यां भुज्यते परम् ।
ततः शुक्रं रजश्चैव भूत्वा गर्भोऽभिजायते ।।२०।।
ततः कर्मानुसारेण भवेत् स्त्रीपुन्नपुंसकम् ।
एवं जीवगतिः प्रोक्ता मुक्ति तस्य वदामि ते ।।२१।।
यस्तु शान्त्यादियुक्तः सन् सदा विद्यारतो भवेत् ।
स याति देवयानेन ब्रह्मलोकावधि नरः ।। २२ ।।
अर्चिर्भूत्वा दिनं प्राप्य शुक्लपक्षमथो व्रजेत् ।
उत्तरायणमासाद्य संवत्सरमथो व्रजेत् ।। २३ ।।
आदित्यचन्द्रलोकौ तु विद्युल्लोकमतः परम् ।
अथ दिव्यः पुमान् कश्चिद् ब्रह्मलोकादिहैति सः ।। २४ ।।

रूप में स्थित रहता है ।। १७–१८ ।। (इसलिये श्रुति में कहा है कि) अपने कर्म और उपासना के अनुसार कोई जीव मनुष्यादि शरीर प्राप्त करता है, कोई कोई ठूंठ ही बन जाता है ।। १९ ।। उसी कर्म के संयोग से उचित माता-पिता के द्वारा उस अन्न के भक्षित होने पर उनके रस रूप रज-वीर्य में जीव का निवास होता है और उन दोनों के संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है ।। २० ।। वही फिर स्वकर्मानुसार स्त्री, पुरुष या नपुंसक होकर प्रसवित होता है । यह जीव की संसारगति है । अब उसकी मुक्तिगति के विषय में कहूँगा ।। २१ ।।

जो मनुष्य शान्ति, दान्ति आदि साधना युक्त होकर उपासना रत रहता है वह मृत्यु के बाद देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक पर्यन्त जाता है ।। २२ ।। देवयान का क्रम इस प्रकार का है :— अर्चि लोक, दिन का लोक, शुक्लपक्षाभिमानी देव का लोक और उत्तरायणाभिमानी देव का लोक । इसके पश्चात संवत्सर देव का लोक आता है ।। २३ ।। वहाँ से आदित्य, चन्द्र आदि कई लोकों को पार करके जीव विद्युल्लोक पर पहुँचता है । उस समय

दिव्ये वपुषि संधाय जीवमेवं नयत्यसौ ।
ब्रह्मलोके दिव्यदेहे भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान् ।
तत्रोषित्वा चिरं कालं ब्रह्मणा सह मुच्यते ।। २५ ।।

शुद्धब्रह्मरतो यस्तु न स यात्येव कुत्रचित् ।
तस्य प्राणा विलीयन्ते जले सैन्धवखिल्यवत् ।। २६ ।।

स्वप्नदृष्टा यथा सृष्टिः प्रबुद्धस्य विलीयते ।
ब्रह्मज्ञानवतस्तद्वद् विलीयन्ते तदैव ते ।। २७ ।।

विद्याकर्मविहीनो यस्तृतीयं स्थानमेति सः ।
भुक्त्वाऽत्र नरकान्घोरान् महारौरवरौरवान् ।।२८।।

एक दिव्यपुरुष ब्रह्मलोक से उतरकर आता है और उसे दिव्य देह में बैठाकर ब्रह्मलोक ले जाता है, जहाँ वह वांछित दिव्य भोगों का चिरकाल तक भोग करता है। महाप्रलय में जब सगुण ब्रह्मा का मूलप्रकृति में लय होता है तब उस ब्रह्म के साथ इसकी भी मुक्ति हो जाती है ।। २५ ।। (यह क्रममुक्ति है। इससे कैवल्यमुक्ति भिन्न है । क्योंकि) शुद्धब्रह्म में निरत ज्ञानी पुरुष को तो शरीर पातानन्तर कहीं भी जाना नहीं पड़ता । उसके समस्त प्राण वहीं अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, जैसे जल में प्रक्षिप्त नमक की डली ।। २६ ।। नींद से जगने पर नींद में देखी सारी स्वप्नसृष्टि उसी क्षण नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी के द्वारा पूर्व में अनुभूत सारी संसृति प्रबोधक्षण में ही नष्ट हो जाती है ।। २७ ।। जो विषयी व्यक्ति शास्त्रोक्त उपासना और कर्म से विहीन है वह धूम्र व अर्चि मार्गों से भिन्न तीसरी गति से नरकगामी होता है, यह पहले ही कह चुके हैं । वहाँ महाभयंकर रौरव आदि नरक यातनाएँ भोगकर पूर्वकृत कर्म-विशेष के अनुसार पृथ्वी में लीख, मच्छर, डाँस आदि क्षुद्र जन्तु-शरीर में जन्म लेता है ।। २८-२९ ।। इस प्रकार मैंने जीवगति का

पश्चात् प्राक्तनशेषेण क्षुद्रजन्तुर्भवेदसौ ।
यूका मशकदंशादि जन्मासौ लभते भुवि ।। २९ ।।
एवं जीवगतिः प्रोक्ता किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।।३०।।

श्रीराम उवाच

भगवन् यत्त्वया प्रोक्तं फलं तु ज्ञानकर्मणोः ।
ब्रह्मलोके चंद्रलोके भुङ्क्ते भोगानिति प्रभो ।। ३१ ।।
गन्धर्वादिषु लोकेषु कथं भोगः समीरितः ।
देवत्वं प्राप्नुयात् कश्चित् कश्चिदिन्द्रत्वमेति च ।।३२।।
एतत्कर्मफलं वास्तु विद्याफलमथापि वा ।
तद्ब्रूहि गिरिजाकान्त तत्र मे संशयो महान् ।।३३।।

वर्णन किया है । तुम अन्य कोई विषय जानना चाहते हो तो पूछ लेना ।। ३० ।।

श्रीराम ने कहा– भगवन ! आपनें कहा कि उपासना व कर्म के फलस्वरूप ब्रह्मलोक और चन्द्रलोक में जीव भोग करता है । परन्तु हे प्रभो ! गन्धर्वादि अन्य लोक भी संसार में हैं । वहाँ के भोग इस जीव को कैसे उपलब्ध होते हैं ? कोई जीव देवत्व को या कोई इन्द्रत्व को ही प्राप्त कर लेता है । यह सब भोग-विचित्रता कर्म का फल है, उपासना का फल है अथवा और कोई तृतीय कारण से है ? गिरिजाकान्त ! इस विषय में मेरे अन्दर महान संशय उदित हुआ है, आप इसका निवारण करें ।। ३१–३३ ।।

श्रीशिव ने कहा — ये सभी भोग उपासना एवं कर्मों के अनुसार ही होते हैं । (कारण के तारतम्य से भोगों में तारतम्य समझना चाहिये । इसके लिये एक मान-दण्ड बताता हूँ ।) मान लो कोई वीर युवक है, जिसका शरीर सुन्दर, स्वस्थ व बलिष्ठ है और वह बिना किसी रोक–टोक सप्तद्वीपा पृथ्वी का राजा

श्रीशिव उवाच ।

तद् विद्याकर्मणोरेवानुसारेण फलं भवेत् ।
युवा च सुन्दरः शूरो नीरोगो बलवान् भवेत् ।।३४।।
सप्तद्वीपां वसुमतीं भुङ्क्ते निष्कण्टकं यदि ।
स प्रोक्तो मानुषानन्दस्तस्माच्छतगुणो मतः।। ३५ ।।
मनुष्यस्तपसा युक्तो गन्धर्वो जायतेऽस्य तु ।
तस्माच्छतगुणो देवगन्धर्वस्य न संशयः ।। ३६ ।।
एवंशतगुणानन्द उत्तरोत्तरतो भवेत् ।
पितॄणां चिरलोकानामाजानसुरसंपदाम् ।। ३७ ।।
देवतानामथेन्द्रस्य गुरोस्तद्वत् प्रजापतेः ।
ब्रह्मणश्चैवमानन्दः पुरस्तादुत्तरोत्तरः ।। ३८ ।।

बनकर भोग करता है । उसको जो आनन्द प्राप्त है उसे हम मनुष्यानन्द की पूर्ण मात्रा कह सकते हैं। इसकी अपेक्षा उस जीव का आनन्द सौगुना अधिक है जो तपोबल से गन्धर्व लोक में जन्म लेता है । देव-गन्धर्वों का आनन्द इससे भी सौगुना अधिक है । इसमें सन्देह नहीं ।। ३४–३६ ।।

इसके अतिरिक्त चिरलोक के पितृगण, कर्म बल से देवत्व प्राप्त आजानदेव, सहज रूप से देव योनि सम्पन्न देवता, उनके भी राजा इन्द्र, देवगुरु बृहस्पति एवं प्रजापति ब्रह्मा इनका आनन्द क्रमशः उत्तरोत्तर सौ मात्रा अधिक होता जाता है ।।३७–३८।। उपासना और कर्म की अधिकता से ही देवलोक आदि में सुख की अधिकता है । इस में और कोई कारण नहीं है । जो वेदान्त वाक्यों का गुरुमुख से विधिपूर्वक श्रवण करके ब्रह्मज्ञान के द्वारा सारे पाप और सारी कामनाओं से मुक्त हो गया है, उस ज्ञानी पुरुष को भी उत्तरोत्तर ये सभी आनन्द प्राप्त हैं, यह श्रुतियों का कथन

ज्ञानाधिक्यात् सुखाधिक्यं नान्यदस्ति सुरालये ।
श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यश्च द्विजो भवेत् ॥३९॥

तस्याप्येवं समाख्याता आनन्दाश्चोत्तरोत्तरम् ।
आत्मज्ञानात् परं नास्ति तस्माद् दशरथात्मज ॥ ४० ॥

ब्राह्मणः कर्मभिर्नैव वर्धते नैव हीयते ।
न लिप्यते पातकेन कर्मणा ज्ञानवान् यदि ॥ ४१ ॥

तस्मात् सर्वाधिको विप्रो ज्ञानवानेव जायते ।
ज्ञात्वा यः कुरुते कर्म तस्याक्षय्यफलं भवेत् ॥ ४२ ॥

यत्फलं लभते मर्त्यः कोटिब्राह्मणभोजनैः ।
तत्फलं समवाप्नोति ज्ञानिनं यस्तु भोजयेत् ॥ ४३ ॥

ज्ञानवन्तं द्विजं यस्तु द्विषते च नराधमः ।
स शुष्यमाणो म्रियते यस्मादीश्वर एव सः ॥ ४४ ॥

है । अतः हे दशरथ कुमार! आत्मज्ञान से श्रेष्ठतर अन्य कुछ भी नहीं है ॥३९–४०॥ ब्रह्म तत्त्व को जानने वाला कर्मों से न तो कुछ लाभ ही प्राप्त करता है और न हानि ही । यदि घोर पाप कर्म प्रसक्ति की कल्पना भी कर लें, फिर भी ज्ञानवान उससे लिप्त नहीं होता ॥४१॥ अतः जो विप्र ब्रह्मज्ञ है वही सब मनुष्यों में श्रेष्ठतम माना जाता है । इस श्रेष्ठता को जानकर उसके प्रति जो कोई सेवा, सत्कार आदि कर्म किये जाते हैं उनका अक्षय फल होता है ॥४२॥ करोड़ों वेद पाठी ब्राह्मणों को भोजन कराने से जितना पुण्य फल संचित होता है उतना ही एक ब्रह्मज्ञानी को भोजन कराने से मनुष्य प्राप्त कर लेता है ॥४३॥ इससे विपरीत कोई नराधम ब्रह्मज्ञानी से द्वेष करता है तो वह क्षय-रोग-ग्रस्त हो मर जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी ईश्वर का ही स्वरूप है ॥४४॥ ईश्वरोपासक कभी भी अधोगति को

उपासको न यात्येव यस्मात् पुनरधोगतिम् ।
उपासनरतो भूत्वा तस्मादास्स्व सुखी नृप ।। ४५ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे जीवगत्यादिनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिये हे राजन! तुम उपासना में निरत होकर सुखी हो जाओ ॥४५॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक, शिवगीता-उपनिषद् शास्त्र में जीवगति-निरूपण नामक एकादश अध्याय संपूर्ण हुआ ।

द्वादशोऽध्यायः

श्रीराम उवाच ।

भगवन् देवदेवेश नमस्तेऽस्तु महेश्वर ।
उपासनविधिं ब्रूहि देशं कालं च तस्य तु ।
अङ्गानि नियमांश्चैव मयि तेऽनुग्रहो यदि ।। १ ।।

श्रीशिव उवाच ।

शृणु राम प्रवक्ष्यामि देशं कालमुपासने ।। २ ।।
सर्वाकारोऽहमेवैकः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
मदंशेन परिच्छिन्ना देहाः सर्वदिवौकसाम् ।। ३ ।।

अध्याय १२

उपासना प्रकार

श्रीराम ने कहा—भगवन! देवदेवेश! महेश्वर! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। यदि आपका अनुग्रह मुझ पर है तो मुझे उपासना के देश, काल, प्रकार, विविध अङ्ग, नियमादि विधानों का उपदेश दीजिये।

श्रीशिव ने कहा—राम! उपासना के देश और काल का प्रतिपादन करता हूँ, सुनो ।।१–२।। मेरा एक अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप ही जगत में सर्वाकार होकर स्थित है। समस्त देवता शरीरों में मेरा ही स्वरूप परिच्छिन्न अंशों के रूप में प्रतीत हो रहा है ।। ३ ।। अतः जो मनुष्य अपने से भिन्न देवताओं की श्रद्धा भक्ति पूर्वक आराधना करते हैं वे भी मुझे ही पूजते हैं। परन्तु मुझ महेश्वर को न पहचानने से वह विधि पूर्वक ईश्वरोपासना

ये त्वन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव राजेन्द्र यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥
यस्मात् सर्वमिदं विश्वं मत्तो न व्यतिरिच्यते ।
सर्वक्रियाणां भोक्ताहं सर्वस्याहं फलप्रदः ॥ ५ ॥
येनाकारेण ये मर्त्या मामेवैकमुपासते ।
तेनाकारेण तेभ्योऽहं प्रसन्नो वाञ्छितं ददे ॥ ६ ॥
विधिनाऽविधिना वापि भक्त्या ये मामुपासते ।
तेभ्यः फलं प्रयच्छामि प्रसन्नोऽहं न संशयः ॥ ७ ॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ ८ ॥
स्वजीवत्वेन यो वेत्ति मामेवैकमनन्यधीः ।
तं न स्पृशन्ति पापानि ब्रह्महत्यादिकान्यपि ॥ ९ ॥

नहीं है ॥ ४ ॥ क्यों कि यह सारा विश्व मेरी सत्ता से भिन्न नहीं है, अतः सभी प्राणियों की सभी क्रियाओं का फलदाता और फलभोक्ता दोनों में स्वयं ही हूँ ॥ ५ ॥ जो मनुष्य मुझ ईश्वर की जिस किसी भी भाव या रूप से कल्पना कर के उपासना करते हैं, उसी रूप और भावना के अनुसार ही मैं उनपर प्रसन्न होकर उन उपासनाओं का फल देता हूँ ॥ ६ ॥

उपासना चाहे विधियुक्त हो या विधिहीन परन्तु भक्तिपूर्वक की गई है तो उस से मैं अवश्य ही प्रसन्न होता हूँ ॥ ७ ॥ महान दुराचारी व्यक्ति भी यदि किसी समय अपने विचार को अन्य विषयों से मोड़कर मेरे भजन में ही लगा देता है तो उस के पूर्वाचरण को न देखते हुए उसे सदाचारी ही मानना चाहिये, क्यों कि उसका निश्चय और प्रयत्न निर्दुष्ट हो गये हैं ॥ ८ ॥ यदि इस प्रकार भजन करते हुए वह अपनें जीव स्वरूप और मेरे ईश्वर स्वरूप के ऐक्य द्वारा अनन्य बुद्धिवाला हो जाता है

उपासाविधयस्तत्र चत्वारः परिकीर्तिताः ।
संपदारोपसंवर्गाध्यासा इति मनीषिभिः ॥ १० ॥
अल्पस्य चाधिकत्वेन गुणयोगाद्विचिन्तनम् ।
अनन्तं वै मन इति संपद्विधिरुदीरितः ॥ ११ ॥
विधावारोप्य योपासा सारोपः परिकीर्तितः ।
यद्वदोङ्कारमुद्गीथमुपासीतेत्युदाहृतः ॥ १२ ॥
आरोपो बुद्धिपूर्वेण य उपासाविधिश्च सः ।
योषित्यग्निमतिर्यत्तदध्यासः स उदहृतः ॥ १३ ॥
क्रियायोगेन चोपासाविधिः संवर्ग उच्यते ।
संहृत्य वायुः प्रलये भूतान्येकोऽवसीदति ॥ १४ ॥

तो ब्रह्महत्यादि महान पातक भी उस को स्पर्श नहीं कर सकते हैं । (अतः इष्ट फल प्राप्ति व अनिष्ट निवारण में समर्थ उपासना तत्त्व को अच्छी तरह से समझ कर अपनाना चाहिये । इस के लिये मैं अब उपासना के प्रकारों का वर्णन करता हूँ) ॥ ९ ॥

विद्वान पुरुष उपासना को चार प्रकार की बताते हैं । उन के नाम संपत्, आरोप, संवर्ग और अध्यास हैं ॥ १० ॥ अल्प पदार्थ के किसी गुण विशेष को लेकर उस से महत्तर पदार्थ के साथ ऐक्य आपदन कर के चिन्तन करना संपत् उपासना की विधि है, जैसे मन के अल्प होने पर भी उस की अनन्त वृत्ति होने से "मन अनन्त विश्वेदेवा है" इस प्रकार चिन्तन करने का आदेश वेदों में मिलता है ॥ ११ ॥ जिस कल्पना के लिये शास्त्र विधान के सिवा और कोई लौकिक आधार नहीं है, उस कल्पनायुक्त उपासना को आरोप कहते हैं । "ओंकार को सामवेद का उद्गीथ जानकर उस का चिन्तन करो" यह आदेश इस में उदाहरण है ॥ १२ ॥

अध्यास नाम के उपासना-प्रकार में कल्पना बुद्धिपूर्वक की जाती है । गर्भाधान के समय पत्नी में अग्निबुद्धि करनेवाला इसी

उपसंगम्य बुद्धया यदासनं देवतात्मना ।
तदुपासनमन्तः स्यात् तद्बहिः संपदादयः ।। १५ ।।
ज्ञानान्तरानन्तरित-सजातिज्ञानसंततेः ।
संपन्नदेवतात्मत्वमुपासनमुदीरितम् ।। १६ ।।
संपदादिषु बाह्येषु दृढबुद्धिरुपासनम् ।
कर्मकाले तदङ्गेषु दृष्टिमात्रमुपासनम् ।
उपासनमिति प्रोक्तं तदङ्गानि ब्रुवे शृणु ।। १७ ।।

उपासना का अवलम्बन करता है ।। १३ ।। जहाँ उपासना रूप आरोप का आधार कोई क्रिया विशेष हो उस उपासना विधि को संवर्ग कहते हैं । क्योंकि श्रुतियों में इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त संवर्ग विद्या है । जिस प्रकार प्रलयकालीन वायु समस्त भूतों को अपने में लीन करती है, उसी प्रकार व्याष्टि प्राण सभी इन्द्रियों का संहरण करके सुषुप्ति में अकेला रहता है, ऐसा चिन्तन करने का विधान संवर्ग विद्या में है ।।१४।।

उपर्युक्त संपत् आदि बाह्य रूप उपासनायें हैं । आन्तरिक उपासना का अर्थ बुद्धि के द्वारा तत्त्व के (उप=) समीप जाकर, अर्थात् श्रवण से उस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर, चैतन्य देवस्वरूप में (आसन=) स्थित हो जाना है ।। १५ ।। इस ध्यान रूपी आन्तरिक उपासना के द्वारा जब उपास्य का सजातोय–प्रत्यय–प्रवाह बीच में विषयान्तर भान के द्वारा टूटे बिना चिरकाल तक स्थिर रहता है तब उपास्य देवस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार सक्षात्कार पर्यन्त ध्यान रूपी उपासना को करना चाहिये ।।१६।। संपत् आदि में बुद्धि की दृढ़ता से उपासना सम्पन्न होती है । यज्ञादि कर्म के अंगभूत (आज्य अवेक्षणादि) कर्मों में दृष्मिात्र से उपासना हो जाती हे । इस प्रकार उपासना के विभिन्न रूपों का वर्णन हुआ । अब मैं उपासना के अंगों को बतलाता हूँ, सुनो ।।१७।।

तीर्थक्षेत्रादिगमनं श्रद्धां तत्र परित्यजेत् ।
स्वचित्तैकाग्रता यत्र तत्रासीत सुखं द्विजः ।। १८ ।।
कम्बले मृदुतल्पे वा व्याघ्रचर्मणि वा स्थितः ।
विविक्तदेशे नियतः समग्रीवशिरस्तनुः ।। १९ ।।
अत्याश्रमस्थः सकलानीन्द्रियाणिनिरुध्य च ।
भक्त्याथ स्वगुरुं नत्वा योगं विद्वान् प्रयोजयेत् २०।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तमनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।२१।।
विज्ञानी यस्तु भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।२२।।

उपासना में व्रती साधक सब से पहले इस आस्था को त्याग दे कि किसी पुण्य तीर्थक्षेत्र में जाकर ही उपासना हो सकती है । जहाँ प्रयत्न करनें पर अपना चित्त सरलता से एकाग्र हो जाता है वही अपने लिये सब से पुण्यतम तीर्थ है । अतः उसी क्षेत्र में साधक प्रसन्नता पूर्वक स्थित हो जावे ।।१८।। वहाँ असंस्कारी जन वर्जित एकान्त स्थान में कम्बल या रेशमादि कोमल आसन या बाघाम्बर बिछाकर उस पर सिर, गर्दन व पीठ को एक सीधमें रख कर बैठे ।। १९ ।। फिर हाथ में भस्म ले उचित मन्त्रों द्वारा जल से मिलाकर शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में विधिवत् लगावे । तत्पश्चात प्राणायाम के द्वारा सकल इन्द्रियों को बहिर्विषयों से निरुद्ध करे । श्रद्धा-भक्ति से मन ही मन स्वगुरु को प्रणाम करके ध्यान योग को प्रारम्भ करे ।।२०।। (इस विषय में कठोपनिषद् श्रुति ने कहा है कि) जो दृढ़निश्चयहीन बुद्धिवाला है एवं मन का निग्रह करना नहीं जानता उसके वश में इन्द्रियाँ नहीं रहती जैसे अकुशल सारथी के वश में दुष्ट अश्व नहीं रहते ।।२१।। परन्तु जो विवेक-विज्ञान सम्पन्न बुद्धि वाला है और सदा मन को योग में तत्पर रखता है उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारमधिगच्छति ।। २३ ।।
विज्ञानी यस्तु भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तत्पदमवाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।। २४ ।।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रह एव च
सोऽध्वनः पारमाप्नोति ममैव परमं पदम् ।।२५।।
हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विशदं तथा ।
विशोकं च विचिन्त्यात्र ध्यायेन्मां परमेश्वरम् ।।२६।।
अचिन्त्यरूपमव्यक्तमनन्तममृतं शिवम् ।
आदिमध्यान्तरहितं प्रशान्तं ब्रह्म कारणम् ।।२७।।

रहती हैं जैसे कुशल सारथी के हाथ में शिक्षित अश्व रहते हैं ।।२२।। विज्ञान हीन, विक्षिप्त मनवाले एवं निषिद्ध विषय-सेवी पुरुष को परमपद प्राप्त नहीं होता, इसके विपरीत वह जन्म-मरण के द्वारा संसार में ही भ्रमण करता रहता है ।।२३।। विज्ञानवान, नियन्त्रित चित्तवाला और सदा शुद्ध आचरण करनेवाला (इस ध्यानाभ्यास से) उस परमपद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से पुनः जन्ममृत्यु के चक्र में नहीं आना पड़ता ।।२४।। अतः जो साधक मानव–तन रूपी रथ को पाकर उसके सारथीस्थानीय बुद्धि को विज्ञानवान बनाता है और लगाम रूपी मन को निग्रह पूर्वक वश में रखता है, वह संसार मार्ग के उस अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है जो मेरा ही उत्कृष्ट स्वरूप है ।।२५।।

(अब कैवल्योपनिषद् श्रुति के अनुसार ध्यानाभ्यास का वर्णन किया जाता है) सब से पहले साधक रजोगुण एवं तमोगुण के मल से और शोक की छाया से रहित अपने हृदयकमल की दृढ़ भावना करे। पश्चात उसके मध्यभाग में मुझ परमेश्वर को विराजमान देखे ।।२६।। वह कल्याणमय शिव अचिन्त्य स्वरूप वाला है। वह प्रमाणों के द्वारा व्यक्त नहीं होता। किसी प्रकार का

एकं विभुं चिदानन्दस्वरूपमजमद्भुतम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशमुमादेहार्धधारिणम् ।। २८ ।।
व्याघ्रचर्माम्बरधरं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् ।
जटाधरं चन्द्रमौलिं नागयज्ञोपवीतिनम् ।। २९ ।।
व्याघ्रचर्मोत्तरीयं च वरेण्यमभयप्रदम् ।
पराभ्यामूर्ध्वहस्ताभ्यां बिभ्राणं परशुं मृगम् ।।३०।।
कोटिमध्याह्नसूर्याभं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
चन्द्रसूर्याग्निनयनं स्मेरवक्त्रसरोरुहम् ।
भूतिभूषितसर्वाङ्गं सर्वाभरणभूषितम् ।। ३१ ।।

परिच्छेद न होने से वह अनन्त और अमृत है। वह आदि मध्यान्त रहित है। सारा प्रपञ्च वहाँ हमेशा के लिये शान्त है। फिर वही विवर्त रूप प्रपञ्च का कारणरूप ब्रह्म भी है ।।२६–२७।। वही अद्वितीय, सर्वव्यापक, अजन्मा और चिदानन्दस्वरूप अपनी माया उपाधि से अद्भुत उपास्य रूप को धारण करके इस प्रकार दिखाई देता है :— उसका स्फटिकवत् स्वच्छ रूप है, शरीरार्द्ध में ब्रह्मविद्या स्वरूपिणी आदिशक्ति उमा विराजमान है। व्याघ्र-चर्म के कटिवस्त्र और उत्तरीय पहने हैं। नीलकण्ठ और त्रिनेत्र हैं। जटाधारी हैं। चन्द्रमा को सिर पर धारण किये हैं। नाग को ही यज्ञोपवीत के स्थान में अपनाये हैं। नीचे के उभय हस्तों में वर और अभय मुद्रायें हैं। ऊपर के दो करकमलों में परशु और मृग मुद्राएँ दिखाई देती हैं ।।२९–३०।। करोड़ों मध्याह्न सूर्य जैसे तेजोमय होते हुए भी करोडों पूर्णचन्द्र जैसे शीतल लगते हैं। उनके मन्दहसित मुखकमल को सूर्य, चंद्र और अग्नि ये तीन तत्त्व तोन नेत्र रूप में अलंकृत करते हैं। उस श्रीविग्रह के सभी अङ्ग भस्म से लिप्त हैं और सभी आभरणों से भूषित हैं ।।३१।।

ऐसे शुद्धस्वरूप और सगुणरूप दोनों का चिन्तन करते हुए मन ही मन ओंकार का जप करना चाहिये। अन्तःकरण

एवमात्मारणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्
ध्याननिर्मथनाभ्यासात् साक्षात् पश्यति मां जनः ।३२।
वेदवाक्यैरलभ्योऽहं न शास्त्रैर्नापि चेतसा ।
ध्यानेन वृणुते यो मां सर्वदाहं वृणोमि तम् ।। ३३ ।।
नाविरितो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेन लभेत माम् ।। ३४ ।।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चो यः प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।। ३५ ।।

रूपी पूर्वारणि के ऊपर प्रणवरूपी उत्तरारणि को ध्यानक्रिया रूप मन्थन से चलाने वाला साधक मेरे अग्निसदृश ज्ञानस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है ।। ३२ ।। वेद-वाक्यों को रटना, नाना शास्त्रों को पढ़ना, हठपूर्वक चित्त को जड़ समाधि में निगृहीत करना आदि अन्य साधनों से मैं अलभ्य हूँ । जो ध्यान के द्वारा मुझे अपनाता है उसको मैं अपना स्वरूप प्रकट करता हूँ ।। ३३ ।। दुश्चरित्र से अविरत, इन्द्रिय-लोलुप, अशान्त, श्रवणादि साधना में मन को एकाग्र रखने में असमर्थ और अपनी साधना सिद्धि के लिये अत्यन्त व्यग्र चित्तवाला साधक भी केवल शास्त्रज्ञान के बल से मुझे प्राप्त नहीं कर सकता है ।।३४।।

" जिस स्वयं ज्योति चैतन्य के प्रकाश में ही जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि जीव-प्रपञ्च भासित होता है वही ब्रह्म मैं हूँ " इस प्रकार दृढ़ साक्षात्कार करके सभी बन्धनो से उपासक सदा के लिये मुक्त हो जाता है ।।३५।। जाग्रत आदि तीन धामों में जो कुछ भोग्य, भोक्ता और भोग अनुभूत होते हैं, उन सबके साक्षी, अतः उन सबसे विलक्षण, चिन्मात्र ज्योति मैं सदाशिव हूँ ।। ३६ ।। वह एक अखण्ड चैतन्यदेव स्वप्रकाश होकर भी सभी भूतों में छिपा हुआ है, सर्वत्र व्यापक है व सर्वान्तर्यामी है । समस्त कर्मों का संचालक, सब में निवास करनेवाला साक्षी, चैतन्यता प्रदान करनेवाला, केवली

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥३६॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।३७॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा-
प्येकं बीजं नित्यदा यः करोति ।
तं मां नित्यं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ३८ ॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ३९ ॥

भाव में शुद्ध एवं निर्गुण है ॥ ३७ ॥ सृष्टि के पूर्व जो अकेला रहता है, जो अपनी शक्ति से सृष्टि की रचना कर के उस में प्रवेश करता है एवं बीज रूप एक माया को हमेशा बहु रूपों में विस्तृत करता रहता है, वही मेरा नित्य स्वरूप है । जो बुद्धिमान पुरुष शास्त्र एवं आचार्य के उपदेशानुसार इस सत्य का दर्शन करलेते हैं वे ही शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ३८ ॥ जैसे अग्नि लौह, काष्ठादि पदार्थों के अन्दर प्रविष्ट होकर गोलाकार, चौकोरादि तत्तत् पदार्थ रूप को ग्रहण करती है परन्तु उसका कोई निजआकार नहीं है, इसी प्रकार एकमात्र चैतन्यज्योति सभी भूत शरीरों में अन्तरात्मा रूप से स्थित होकर उन शरीरादि उपाधियों को स्वीकार करने पर भी सांसारिक सुख-

वेदेह यो मां पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
स एव विद्वानमृतोऽत्र भूयान्-
नान्यस्तु पन्था अयनाय विद्यते ।। ४० ।।
हिरण्यगर्भं विदधामि पूर्वं
वेदांश्च तस्मै प्रहिणोमि योऽहम् ।
तं देवमीड्यं पुरुषं पुराणं
निश्चित्य मां मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।। ४१ ।।
एवं शान्त्यादियुक्तः सन् वेत्ति मां तत्त्वतस्तु यः ।
निर्मुक्तदुःखसंतानः सोऽन्ते मय्येव लीयते ।। ४२ ।।

दुःखादि से लिप्त नहीं होती, क्योंकि वह उन सब से अतीत है ॥ ३९ ॥

समस्त मोहान्धकार के परे प्रचण्ड सूर्य की भाँति अस्पृष्ट स्वयंप्रकाश रूप से स्थित मुझ परमपुरुष को जो इसी जीवन में जान लेता है वही विद्वान है और वह इस नश्वर शरीर में ही अमृत हो जाता है। इस सद्योमुक्ति के लिये उस ज्ञान के सिवा अन्य कोई साधन नहीं है ॥ ४० ॥ मैं सृष्टि के पूर्व सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) को प्रसवित करता हूँ और मैं ही उसे समस्त वेदों का ज्ञान देता हूँ। ऐसे मुझ पुराणपुरुष और पूजनीय इष्टदेव के महेश्वर स्वरूप की निश्चित पहचान जिस को प्राप्त है वह मृत्युमुख से हमेशा के लिये छूट जाता है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार शम, दम आदि साधनों के द्वारा ध्यानयोग में नित्य निरत रहने के कारण साधक मेरे तत्त्वस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और संसार के अविरल दुःख प्रवाह से अस्पृष्ट रहता हुआ शरीर पात के बाद मुझ परब्रह्म में ही लीन हो जाता है ॥ ४२ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे उपासनाप्रपंचनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योगप्रतिपादक, शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में उपासनाप्रपंचन नामक द्वादश अध्याय समाप्त हुआ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सूत उवाच ।

एवं श्रुत्वा कौसलेयस्तुष्टो मतिमतां वरः ।
पप्रच्छ गिरिजाकान्तं सुभगं मुक्तिलक्षणम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच ।

भगवन् करुणाविष्टहृदय त्वं प्रसीद मे ।
स्वरूपं लक्षणं मुक्तेः प्रब्रूहि परमेश्वर ॥ २ ॥

श्रीशिव उवाच ।

सालोक्यमपि सारूप्यं सार्ष्टर्यं सायुज्यमेव च ।
कैवल्यं चेति तां विद्धि मुक्ति राघव पञ्चधा ॥ ३ ॥

अध्याय १३
कैवल्यमुक्ति निरूपण

सूतजी ने कहा — बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कौशल्यानन्दन इस प्रकार के उपदेश को सुनकर सन्तुष्ट हुए और अत्यन्त शोभनीय गिरिजापति से मुक्ति विषयक प्रश्न करने लगे ॥१॥

श्रीराम ने कहा — भगवन! आपका हृदय करुणा से परिपूर्ण है। आप मुझ पर प्रसन्न हों। हे परमेश्वर! अब मैं मुक्ति का स्वरूप और लक्षण आप से जानना चाहता हूँ ॥२॥

श्रीशिव नें कहा — राघव! मुक्ति के इन पाँच प्रकारों को जानना चाहिए — सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्ट्य, सायुज्य और कैवल्य ॥३॥ जो उपासक मेरे व साधना के स्वरूप–विषयक ज्ञान से रहित होते हुए भी निष्काम भाव से मेरी पूजा करता है वह शरीर पातानन्तर

मां पूजयति निष्कामः सर्वदाऽज्ञानवर्जितः ।
स मे लोकं समासाद्य भुङ्क्ते भोगान् यथेप्सितान् ॥४॥
ज्ञात्वा मां पूजयेद्यस्तु सर्वकामविवर्जितः ।
मया समानरूपः सन् मम लोके महीयते ॥५॥
इष्टापूर्तादिकर्माणि मत्प्रीत्यै कुरुते तु यः ।
सोऽपि तत्फलमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥६॥
यत्करोति यदश्नाति यज्जुहोति ददाति यत् ।
यत्तपस्यति तत्सर्वं यः करोति मदर्पणम् ।
मल्लोके स श्रियं भुङ्क्ते मत्तुल्यं प्राभवं भजन् ॥७॥
यस्तु शान्त्यादियुक्तः सन् मामात्मत्वेन पश्यति ।
स जायते परंज्योतिरद्वैतं ब्रह्म केवलम् ॥८॥

मेरे सगुण लोक में जाकर यथेष्ट दिव्य भोगों का भोग करता है। (यह सालोक्य मुक्ति है) ॥४॥

मेरे स्वरूप को जानते हुए सभी कामनाओं से रहित होकर नित्य विधिवत् मेरी आराधना करनेवाला मेरे लोक में आने पर मेरे जैसे ही दिव्य रूप को प्राप्त कर पूजित होता है। (इसे सारूप्य मुक्ति कहते हैं) ॥५॥ जो इष्ट, पूर्त आदि शास्त्रीय कर्मों को, सर्व काम रहित होकर, मेरे स्वरूप को लक्ष्य करके केवल मेरी प्रीति के लिये ही करता है वह भी इसी मुक्ति का भागी बनता है; इस में सन्देह के लिये अवकाश नहीं ॥६॥ इससे भी श्रेष्ठ साधक जो उपर्युक्त योग्यताओं से सम्पन्न होकर अपनी प्रत्येक क्रिया—स्वधर्म-कर्म, भोजनादि शरीर-निर्वाह के कर्म, यज्ञ-दानादि शास्त्रीय कर्म, तपादि विशेष कर्म—मुझे समर्पित कर देता है, वह मेरे समान प्रभावशाली होकर मेरे लोक में दिव्य ऐश्वर्य का उपभोग करता है (इसका नाम सार्ष्ट्य मुक्ति है) ॥७॥ कुछ विलक्षण साधक ऐसे हैं जो शान्ति, दान्ति आदि साधना में तत्पर होकर मुझ अद्वैत और केवल ब्रह्म की आत्मरूपेण

आत्मस्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्यभिधीयते ।। ९ ।।
सत्यं ज्ञानमनन्तं सदानन्दं ब्रह्म केवलम् ।
सर्वधर्मविहीनं च मनोवाचामगोचरम् ।। १० ।।
सजातीयविजातीयपदार्थानामसंभवात् ।
अतस्तद्व्यतिरिक्तानामद्वैतमिति संज्ञितम् ।। ११ ।।
मत्वा रूपमिदं राम शुद्धं यदभिधीयते ।
मय्येव दृश्यते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।। १२ ।।
व्योम्नि गन्धर्वनगरं यथा दृष्टं न दृश्यते ।
अनाद्यविद्यया विश्वं सर्वं मय्येव कल्प्यते ।। १३ ।।

("वही मैं हूँ") भावना करते हैं । इस भावात्मक उपासना के बल से वे शरीरपातानन्तर परंज्योतिस्वरूप हो जाते हैं । (यह सायुज्य मुक्ति है) ॥८॥ परन्तु वास्तव में जिसको मुक्ति कहा जा सकता है वह तो नित्य निरन्तर आत्म-स्वरूप में अवस्थान रूप पञ्चम प्रकार है । (जिसे कैवल्य या जीवन्मुक्ति भी कहते हैं) ॥९॥ आत्मस्वरूप को ही शास्त्रों में ब्रह्म कहा है क्योंकि वह सत्य (त्रिकाल में अबाधित) है, ज्ञान स्वरूप है, अनन्त है, सदा आनन्दरूप है, सकल सांसारिक धर्मों से हीन है, अतः मन एवं वाणी का अविषय है ॥१०॥ उसके अतिरिक्त दूसरे किसी भी सजातीय या विजातीय पदार्थ की संभावना सिद्ध न होने से यह ब्रह्म अद्वैत नाम से जाना जाता है । (इसलिये इस स्वरूप स्थिति को कैवल्य या केवली–भाव कहते हैं ।) ॥११॥ राम! श्रुतिप्रतिपादित इस शुद्धस्वरूप को श्रवण–मनन–निदिध्यासन द्वारा समझने के बाद सारा चराचर जगत मुझ ब्रह्म में ही दृष्टिगोचर होता है । (जगत की पृथक सत्ता अनुभूत नहीं होती, क्योंकि) ॥१२॥ अनादि अविद्या के कारण ही मेरे में समस्त विश्व की पृथक रूप से प्रतीति होती है, जैसे शून्य में भ्रम के कारण गन्धर्व नगर दिखाई देनें पर भी वहाँ वास्तव में कोई दृश्य नहीं है ॥१३॥ मेरे

मम स्वरूपज्ञानेन यदाऽविद्या प्रणश्यति ।
तदैक एव वर्त्तेऽहं मनोवाचामगोचरः ।
सदैव परमानन्दः स्वप्रकाशश्चिदात्मकः ।। १४ ।।
न कालः पञ्चभूतानि न दिशो विदिशश्च न ।
मदन्यन्नास्ति यत्किञ्चित् तदा वर्त्तेऽहमेकलः ।। १५ ।।
न संदृशे तिष्ठति मे स्वरूपं
न चक्षुषा पश्यति मां तु कश्चित् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तं
ये मां विदुस्ते ह्यमृता भवन्ति ।। १६ ।।

श्रीराम उवाच ।

कथं भगवतो ज्ञानं शुद्धं मर्त्यस्य जायते ।
तत्रोपायं हर ब्रूहि मयि तेऽनुग्रहो यदि ।। १७ ।।

स्वरूप ज्ञान के द्वारा जब अविद्या नष्ट हो जाती है तत्पश्चात मन-वाणी से अतीत एक अखण्ड मैं ही, सदा परमानन्दरस रूप से एवं स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप से सर्वत्र अनुभूत होता हूँ ॥१४॥ मेरे सिवा काल, पञ्च महाभूत, दिशायें, विदिशायें कोई भी सत्य नहीं है । अतः अकेला मैं ही नित्य वर्तमान में विराजमान होता हूँ ॥१५॥ मेरे स्वरूप को सहसा समझना सबके लिये संभव नहीं है । चक्षु आदि प्रत्यक्ष प्रमाणों से कोई व्यक्ति मुझे नहीं पहचान सकता । परन्तु श्रवणविषय को धारण करने में कुशल, सूक्ष्म, अन्तर्मुखी एवं एकाग्र बुद्धि के द्वारा प्रत्यग्-ज्योति रूप से ध्यान कर मुझे कोई विरले चतुर ज्ञानी पहचान लेते हैं और अमृत रूप हो जाते हैं ॥१६॥

श्रीराम ने कहा — भगवन! मर्त्य लोक के अल्पशक्ति वाले मनुष्य के लिये आपके इस शुद्ध स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त करना कैसे सम्भव है? सब के दुःखों को हरनेवाले! इसका यदि उपाय हो

श्रीशिव उवाच ।

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चपदादपि ।
घृणां वितत्य सर्वत्र पुत्रमित्रादिकेष्वपि ॥ १८ ॥
श्रद्धालुर्मोक्षशास्त्रेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया ।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥ १९ ॥
तमर्थं पुरतः कृत्वा दण्डवत् प्रणमेद्गुरुम् ।
उत्थाय चाञ्जलिं कृत्वा वाञ्छितार्थान्निवेदयेत् ॥२०॥
सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः ।
सर्ववेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात् सुसमाहितः ॥ २१ ॥
सर्ववेदान्तवाक्यानां मयि तात्पर्यनिश्चयम् ।
श्रवणं नाम तत्प्राहुः सर्वे ते ब्रह्मवादिनः ॥ २२ ॥

और यदि उचित हो तो आप मुझे उसका रहस्य बतलावें । मैं आपका बड़ा अनुग्रह मानूँगा ॥१७॥

श्रीशिव ने कहा — ब्रह्मा की पदवी से लेकर समस्त लौकिक पदार्थों में राग को हटाकर और मित्र, पुत्र आदि सभी सम्बन्धों में घृणा को प्राप्त करके मोक्ष शास्त्र में श्रद्धालु उस साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह वेदान्त-ज्ञान प्राप्ति की तीव्र इच्छा से विधिवत् समित् आदि गुरु सेवा-द्रव्य को हाथ में लेकर ब्रह्मवेत्ता गुरु के समीप जावे ॥१९॥ उन सेवा-द्रव्यों को गुरु के समक्ष समर्पित करते हुए दण्डवत प्रणाम करे । उठके अञ्जलि बाँध के विनय पूर्वक अपनी अभिलाषा को प्रकट करे ॥२०॥ गुरु की आज्ञा से उनके साथ रहते हुए समाहित होकर चिरकाल तक सेवा कर्मों के द्वारा गुरु को पूर्णतया संतुष्ट करे । सेवा के अतिरिक्त समयों में कृपा से प्रेरित होकर गुरुदेव वेदान्त वाक्यार्थ का जो उपदेश देते हैं उसको एकाग्र चित्त से ग्रहण करे ॥२१॥ सारे वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य मुझ परब्रह्मस्वरूप का निरूपण ही

लोहमण्यादिदृष्टान्तैर्युक्तिभिर्यद्विचिन्तनम् ।
तदेव मननं प्राहुर्वाक्यार्थस्योपबृंहणम् ॥ २३ ॥
निर्ममो निरहंकारः समः संगविवर्जितः ।
सदा शान्त्यादियुक्तः सन्-नात्मन्यात्मानमीक्षते ।
यत्सदा ध्यानयोगेन तन्निदिध्यासनं स्मृतम् ॥ २४ ॥
सर्वकर्मक्षयवशात् साक्षात्कारोऽपि चात्मनः ।
कस्यचिज्जायते शीघ्रं चिरकालेन कस्यचित् ॥ २५ ॥
कूटस्थानीह कर्माणि कोटिजन्मार्जितान्यपि ।
ज्ञानेनैव विनश्यन्ति न तु कर्मायुतैरपि ॥ २६ ॥
ज्ञानादूर्ध्वं तु यत्किञ्चित् पुण्यं वा पापमेव वा ।
क्रियते बहु वाल्पं वा न तेनायं विलिप्यते ॥ २७ ॥

है । इसका निश्चय करना ही प्रथम साधन है जिसे सभी ब्रह्मवादी 'श्रवण' नाम से कहते हैं ॥२२॥ द्वितीय साधन 'मनन' कहा जाता है । इस में श्रवण द्वारा प्राप्त वेदान्त वाक्यार्थ को लोहमणि आदि शास्त्रोक्त दृष्टान्त और युक्तियों से स्वयं विवेचन करके पुष्ट करना पड़ता है ॥२३॥ इसके साथ-साथ ममता, अहंकार, विषमता एवं आसक्ति को दूर रखते हुए और सदा शान्ति, दान्ति, तितिक्षा आदि का अभ्यास करते हुए नित्य निरन्तर ध्यानयोग के द्वारा अपने अन्दर ही श्रवण–मनन से निर्णीत आत्मरूप का अनुभव करते रहना 'निदिध्यासन' नामक तृतीय साधन है ॥२४॥ इस साधना क्रम में रत रहनेवाले को, समस्त कर्मों के क्षय होने पर आत्म साक्षात्कार हो जाता है । किसी को स्वल्प समय में किसी को चिरकाल में अपनी अपनी योग्यतानुसार यह सिद्ध होता है ॥२५॥ करोड़ों जन्मों में सञ्चित कर्मों का महान और प्रबल समूह भी दृढ़ ज्ञान के द्वारा अवश्य ही नष्ट हो जाता है, असंख्य यज्ञादि कर्मों के करने से भी यह असम्भव है ॥२६॥ ज्ञानोदय के

शरीरारम्भकं यत्तु प्रारब्धं कर्म तन्मतम् ।
तद्भोगेनैव नष्टं स्यान्-न तु ज्ञानेन नश्यति ॥ २८ ॥
निर्मोहो निरहंकारो निर्लेपः संगवर्जितः ।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यः पश्यन् संचरत्येष जीवन्मुक्तोऽभिधीयते ॥ २९ ॥
अहिर्निर्ल्वयिनी यद्वद् द्रष्टुः पूर्वं भयप्रदा ।
ततोऽस्य न भयं किंचित् तद्वद् द्रष्टुरयंजनः ॥ ३० ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य वशं गताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ३१ ॥
मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥ ३२ ॥

पूर्व इस जीवन में जो कोई पुण्य या पाप बहुत या अल्प मात्रा में हुआ हो, उनसे वह ज्ञानी लिप्त नहीं होता ॥२७॥ वर्तमान शरीरको प्रारम्भ करनेवाला प्रारब्धकर्म तो अपना भोग देकर ही नष्ट होता है। उसके पूर्व उसके ऊपर ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता ॥२८॥ उस अवस्था में मोह और अहंकार से रहित एवं जीवन की परिस्थितियों से स्वभावतः ही निर्लिप्त व असङ्ग यह ज्ञानी पुरुष सभी प्राणियों में अपने आत्मस्वरूप को ही देखता है और अपने आत्मस्वरूप आधार में अध्यस्त रूप से उन्हें देखता हुआ स्वच्छन्द संचरण करता है। इसे जीवन्मुक्त कहते हैं ॥२९॥ उस ज्ञानी पुरुष को संसार में किसी से भी भय नहीं होता, क्योंकि उसके लिये संसार ऐसा प्रतीत होता है मानो यह सर्प द्वारा विसर्जित केंचुली है जो एक समय भय का कारण होते हुए भी अब विनोद मात्र है ॥३०॥ जब हृदय में प्रविष्ट सारी कामवासनायें धुल जाती हैं तदनन्तर वह मनुष्य अमृत-ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अन्तिम परिणाम पर्यन्त ज्ञानाभ्यास आदि की जरूरत

वृक्षाग्रच्युतपादो यः स तदैव पतत्यधः ।
तद्वज्ज्ञानवतो मुक्तिर्-जायते निश्चितापि तु ।। ३३ ।।
तीर्थे चण्डालगेहे वा यदि वा नष्टचेतनः ।
परित्यजन् देहमिमं ज्ञानादेव विमुच्यते ।। ३४ ।।
संवीतो येन केनाश्नन् भक्ष्यं वाभक्ष्यमेव वा ।
शयानो यत्र कुत्रापि सर्वात्मा मुच्यतेऽत्र सः ।।३५।।
क्षीरादुद्धृतमाज्यं यत् क्षिप्तं पयसि तत्पुनः ।
न तेनैवैकतां याति संसारे ज्ञानवांस्तथा ।। ३६ ।।
नित्यं पठति योऽध्यायमिमं राम शृणोति वा ।
स मुच्यते देहबन्धादनायासेन राघव ।। ३७ ।।

है ।।३१।। अन्तिम परिणाम मोक्ष है । मोक्ष प्राप्ति का अर्थ यह नहीं कि कहीं लोकान्तर में या शरीरान्तर में जीव का गमन होता है । अज्ञान रूपी हृदय ग्रन्थि का मुक्त हो जाना ही मोक्ष नाम से शास्त्रों में स्वीकार किया गया है ।। ३२ ।। वृक्ष की शाखा के अग्रभाग से जिसका आधार छूट गया वह अवश्य ही नीचे गिरता है । उसी प्रकार दृढ़ज्ञानी सारी आस्था से रहित हो जाने से निश्चित रूप से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।।३३।। उसके शरीर का पात चाहे तीर्थस्थल में हो या चाण्डाल के घर, अचेत अवस्था में या सचेत में, देह परित्याग करता हुआ वह ब्रह्म में ही लीन रहता है ।।३४।। प्राण धारण के समय भी किसी भी अनायास -उपलब्ध वस्त्र से आच्छादित, भोजन से पोषित और शय्या में विश्रान्त वह स्वात्म-स्वरूप ज्ञानी जीते जी मुक्त है ।।३५।। दूध या दही से मन्थन द्वारा निकाले हुए नवनीत पिण्ड को पुनः उसी दूध या छाछ में डालने पर भी वह उस में पूर्ववत घुलकर एक नहीं होता । संसार में ज्ञानी की स्थिति भी इसी प्रकार है ।।३६।।

अतः संयतचित्तस्त्वं नित्यं पठ महीपते ।
अनायासेन तेनैव सर्वथा मोक्षमाप्स्यसि ।। ३८ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे मोक्षनिरूपणंनाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

हे रघुवंश में उत्पन्न राम! इस (अध्याय)का जो व्यक्ति नित्य पाठ या श्रवण करता है वह धीरे धीरे देहबन्धन से अनायास ही छूट जायेगा ॥३७॥ इस में प्रतिपादित विषय का ऐसा महत्त्व है । इसलिये हे राजन! तुम निगृहीत चित्त होकर नित्य इस अध्याय का पाठ करो । इस उपाय मात्र से तुम सरलता पूर्वक मोक्ष को प्राप्त कर लोगे ॥३८॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराणके उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योगप्रतिपादक, शिवगीता-उपनिषद् शास्त्र में मुक्तिनिरूपण नामक त्रयोदश अध्याय संपूर्ण हुआ ।

चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्रीराम उवाच ।

भगवन् यदि ते रूपं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
निश्चलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ॥१॥
सर्वधर्मविहीनं च मनोवाचामगोचरम् ।
सर्वव्यापिनमात्मानमीक्षते सर्वतः स्थितम् ॥ २ ॥
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ।
अमूर्तं सर्वभूतात्माकारं कारणकारणम् ॥ ३ ॥
यत्तददृश्यमग्राह्यं तद्ग्राह्यं वा कथं भवेत् ।
अत्रोपायमजानानस्तेन खिन्नोऽस्मि शंकर ॥ ४ ॥

अध्याय १४

पंचकोश प्रतिपादन

श्रीराम ने कहा – भगवन ! आपके कथनानुसार आपका सच्चिदानन्द स्वरूप निश्चल, निष्क्रिय, शान्त, निर्दुष्ट, माया से निर्लिप्त, कर्ता-भोक्तादि समस्त धर्मों से रहित, मन वाणी से अगम्य, सर्वव्यापी, सर्वत्र स्थित और प्रकाशित होनेवाला आत्मचैतन्यरूप, आत्मविद्या और तप रूपी साधन से सिद्ध, उपनिषदों का परम तात्पर्य, तत् पदार्थ ब्रह्म नाम से अभिहित, अमूर्त, सम्पूर्ण जीवों का स्वरूपभूत और मायादि जगत्कारण को भी सत्ता प्रदान करने वाला है ॥ १–३ ॥ ऐसा जो अदृश्य और अग्राह्य स्वरूप है उसका किसी साधन से ग्रहण कैसे सम्भव है ? हे शंकर ! इस असम्भवता को दूर करने का कोई भी उपाय समझ में न आने से मैं खिन्न हूँ ॥ ४ ॥

श्रीशिव उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि तत्रोपायं महाभुज ।
सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्यं विधाय च ।
स्थूलारुन्धतिकान्यायात् तत्र चित्तं प्रवर्तयेत् ॥ ५ ॥
तस्मिन्नन्नमये पिण्डे स्थूलदेहे तनूभृताम् ।
जन्मव्याधिजरामृत्युनिलये वर्तते दृढा ।
आत्मबुद्धिरहंमानात् कदाचिन्नैव हीयते ॥ ६ ॥
आत्मा न जायते नित्यो म्रियते वा कथंचन ॥७॥
संजायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धते तथा ।
क्षीयते नश्यतीत्येते षड्भावा वपुषः स्मृताः ॥ ८ ॥

श्रीशिव ने कहा – महाबाहो ! इस कठिनाई को दूर करने का उपाय मैं बताता हूँ, तुम सावधानी पूर्वक सुनो । राजन ! निर्गुण को ग्रहण करने के पूर्व सगुण ब्रह्म की उपासना से चित्त को एकाग्र करना होगा, फिर स्थूलारुन्धतिका न्याय से चित्त को निर्गुण ब्रह्म में लगाना चाहिये ॥ ५ ॥

(इस न्याय का प्रयोग अध्यात्म-साधना में किस प्रकार होता है, इसका अब वर्णन करूँगा) आत्मा की सबसे स्थूल उपाधि यह मांसपिण्ड देह है । यही जीव का अन्नमय कोश है । जन्म-व्याधि-जरा-मृत्यु का नाटक इसी को लेकर होता है । ऐसा होने पर भी इसी शरीर के साथ जीव का दृढ़ अभिमान हो जाता है कि "यही मैं हूँ" और इस भावना को वह कभी भी छोड़ता नहीं ॥ ३ ॥ (अत्यन्त मोह के कारण ही ऐसा हो सकता है, क्योंकि) वस्तुतः नित्यस्वरूप आत्मा का न कभी जन्म हो सकता है और न किसी से उसकी मृत्यु ही सम्भव हो सकती है ॥ ७ ॥ (इससे विपरीत) उत्पन्न होना, अस्तित्त्व में आना, परिणत होना, वृद्धि को प्राप्त करना, क्षीण होना और अन्त में नष्ट हो जाना — इस प्रकार शास्त्रों में वर्णित षड्विध सभी विकार शरीर के धर्म सिद्ध होते

आत्मनो न विकारित्वं घटस्थनभसो यथा ।
एवमात्माऽवपुस्तस्मादिति संचिन्तयेद् बुधः ।। ९ ।।
मूषानिक्षिप्तहेमाभः कोशः प्राणमयोऽत्र तु ।
वर्ततेऽन्तरतो देहे बद्धः प्राणादिवायुभिः ।। १० ।।
कर्मेन्द्रियैः समायुक्तश्चलनादिक्रियात्मकः ।
क्षुत्पिपासापराभूतो नायमात्मा जडो यतः ।। ११ ।।
चिद्रूप आत्मा येनैव स्वदेहमनुपश्यति ।
आत्मैव हि परं ब्रह्म निर्लेपः सुखनीरधिः ।। १२ ।।
न तदश्नाति कंचैनम् न तदश्नाति किंचन ।।१३।।

हैं ।।८।। घटाकाश की भाँति इस शरीर में व्याप्त आत्मा शरीर के विकारों से अस्पृष्ट है। अतः बुद्धिमान इस विचार को निरन्तर जाग्रत रखें कि "मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं" ।।९।।

स्थूल देह के अन्दर प्राणमय कोश इस प्रकार व्याप्त रहता है जैसे पिघला हुआ सुवर्ण साँचे के अन्दर डालने पर तदाकार होकर रहता है । प्राण-अपान आदि वायु इस कोश को स्थूल देह से बाँध कर रखती हैं ।।१०।। इसी कोश में पाँच कर्मेन्द्रियाँ स्थित हैं । अतः गमन, आदान आदि क्रियाएँ इसके द्वारा ही सम्पन्न होती हैं । भूख और प्यास इस कोश के धर्म हैं । प्राण से निर्मित होने के कारण यह जड़ है । इन तीन हेतुओं से यह स्पष्ट है कि प्राणमय कोश आत्मा नहीं ।।११।। क्योंकि आत्मतत्त्व जड़ नहीं अपितु जड़ देह आदि को जाननेवाला चिद्रूप है । परिपूर्ण ब्रह्मरूप होने के कारण इस में क्रिया सम्भव नहीं । निर्लिप्त स्वभाव होने से क्षुधादि के द्वारा यह पीड़ित नहीं होता। इसलिये यह सुखसागर-स्वरूप है ।।१२।। श्रुतियों में "वह न किसी को खाता है, न उसे कोई खा सकता है" कह कर आत्मतत्त्व की अशनादि क्रिया का स्पष्ट निषेध किया गया है ।।१३।।

ततः प्राणमये कोशे कोशोऽस्त्येव मनोमयः ।
स संकल्पविकल्पात्मा बुद्धीन्द्रियसमाहितः ॥ १४ ॥
कामः क्रोधस्तथा लोभो मोहो मात्सर्यमेव च ।
मदश्चेत्यरिषड्वर्गो ममतेच्छादयोऽपि वा ।
मनोमयस्य कोशस्य धर्मा एतस्य तत्र तु ॥ १५ ॥
या कर्मविषया बुद्धिर् वेदशास्त्रार्थनिश्चिता ।
सा तु ज्ञानेन्द्रियैः सार्धं विज्ञानमयकोशतः ॥ १६ ॥
इह कर्तृत्वाभिमानी स एव तु न संशयः ।
इहामुत्र गतिस्तस्य स जीवो व्यावहारिकः ॥ १७ ॥

इस प्राणमय कोश के भीतर मनोमय कोश है । संकल्प-विकल्प (पक्ष-विपक्षों का चिन्तन) ही इसका स्वरूप है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियों से संयुक्त है ॥१४॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य (ईर्ष्या) और मद (घमंड) — ये आत्मज्ञान के प्रसिद्ध छः दुश्मन, एवं ममता, इच्छा आदि भाव सब मनोमय कोश के ही धर्म हैं । (आत्मा तो ज्ञानस्वरूप, निर्विकल्प, निःसंग और प्रशान्त होने के कारण मनोमय कोश नहीं हो सकती — इस प्रकार विचार करें) ॥१५॥

कर्त्तव्य कर्म के विषय में वेद शास्त्रार्थ ज्ञान के द्वारा निश्चय करने वाली बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश कहलाती है ॥१६॥ अतः यह असंदिग्ध है कि "कर्मों का कर्ता मैं हूँ" ऐसा अभिमान इसी कोश में उत्पन्न होता है । इस अभिमान पूर्वक इहलोक में एवं परलोक में संचार करने वाला व्यावहारिक जीव भी इसी को कहना चाहिए ॥१७॥ विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, आकाशादि पञ्चमहाभूतों के सत्त्वगुण प्रधान अंश से उत्पन्न होती हैं । उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है :— आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वचा, तेज से चक्षु, जल से जिह्वा और भूमि से घ्राणेन्द्रिय (नासिका) । भूतों से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियों की भौतिकता

व्योमादिसात्त्विकांशेभ्यो जायन्ते धीन्द्रियाणि तु ।
व्योम्नः श्रोत्रं भुवो घ्राणं जलाज्जिह्वाथ तेजसः ।
चक्षुर्वायोस्त्वगुत्पन्ना तेषां भौतिकता ततः ॥ १८ ॥
व्योमादीनां समस्तानां सात्त्विकांशेभ्य एव तु ।
जायेते बुद्धिमनसी बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥१९॥
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि तु ।
व्योमादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यस्तान्यनुक्रमात् ॥२०॥
समस्तेभ्यो रजोंऽशेभ्यः पञ्च प्राणादिवायवः ।
जायन्ते सप्तदशकमेवं लिङ्गशरीरकम् ॥ २१ ॥
एतल्-लिङ्गशरीरं तु तप्तायः पिण्डवद् यतः ।
परस्पराध्यासयोगात् साक्षी चैतन्यसंयुतः ॥ २२ ॥

या जड़ता प्रसिद्ध है ॥१८॥ इसी प्रकार आकाशादि पञ्चभूतों के सम्मिलित सत्त्वांश से उत्पन्न होने से बुद्धि और मन भी जड़ात्मक हैं । निश्चय करना ही बुद्धि का लक्षण है ॥१९॥ वाणी, हाथ, पैर, गुदा (विसर्जनेन्द्रिय) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) आकाशादि भूतों के व्यक्तिगत रजोगुणांश से क्रमशः उत्पन्न होती हैं ॥२०॥ सम्मिलत पञ्चभूतों के रजोंश से प्राण-अपानादि पाँच वायु बनती हैं । इस प्रकार (पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, बुद्धि और मन) सत्रह तत्वों के समूह को लिंगशरीर कहते हैं ॥२१॥

जैसे अच्छी तरह तपाने पर लोहे के गोलाकार आदि का अग्नि में एवं अग्नि के दाहकत्व आदि धर्मों का लोहे में भान होने से अन्योन्याध्यास मानते हैं । उसी प्रकार लिंगशरीर चैतन्य के साथ परस्पर अध्यास करके, कर्म का साक्षी बन जाता है ॥२२॥ जब साक्षी–अभिमान सम्पन्न लिंगशरीर के साथ चैतन्य का भोक्तृत्व अध्यास हो जाता है तब वह आनन्दमय कोश कहा जाता है ।

तदानन्दमयः कोशो भोक्तृत्वं प्रतिपद्यते ।
विद्याकर्मफलादीनां भोक्तेहामुत्र स स्मृतः ॥२३॥
यदाध्यासं विहायैष स्वस्वरूपेण तिष्ठति ।
अविद्यामात्रसंयुक्तः साक्ष्यात्मा जायते तदा ॥२४॥
द्रष्टान्तःकरणादीनामनुभूतस्मृतेरपि ॥ २५ ॥
अतोऽन्तःकरणाध्यासादध्यस्तत्वेन चात्मनि ।
भोक्तृत्वं साक्षिता चेति द्वैधं तस्योपपद्यते ॥२६॥
आतपश्चापि तच्छाया तत्प्रकाशे विराजते ।
एको भोजयिता तत्र भुङ्क्तेऽन्यः कर्मणः फलम् ॥२७॥

इस जन्म में व भावी जन्मों में जीव के उपासना–कर्म–फल का भोग करने वाला यही है ॥२३॥ जब (निद्रावस्थामें) लिंग-शरीर के साथ अध्यास छूट जाता है तब केवल अपने स्वरूप में स्थित चैतन्य अविद्या मात्र उपाधि को लेकर साक्षी रूपेण रहता है और सुषुप्ति का अनुभव करता है (अतः आनन्दमय कोश का अन्य कोशों से विलक्षण रूपेण स्पष्ट भान सुषुप्ति में ही है) ॥ २४ ॥ परन्तु अन्य अवस्थाओं में भी यही अन्तःकरणादि के एवं उनके द्वारा होनेवाले अनुभव, वर्तमान और विगत अनुभवों की स्मृति आदि का साक्षी है ॥२५॥ इसलिये अन्तःकरण के साथ परस्पर अध्यासवश आत्मा में भोक्तृत्व और साक्षित्व अध्यस्त होते हैं । इन दोनों धर्मों के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने पर भी इन का एक साथ अध्यस्त होकर चैतन्य से अनुभूत होना उपपन्न है ॥ २६ ॥ क्योंकि देखा जाता है कि सूर्यालोक द्वारा ही धूप व छाया दोनों एक साथ प्रकाशित होती हैं । इसी प्रकार शरीर के अन्दर अन्तःकरण-साक्षी रूपेण चैतन्य ही सुखदुःख भोग को संभव करने वाला है और अन्तःकरणविशिष्ट होकर वही भोग करने वाला भी है ॥ २७ ॥

क्षेत्रज्ञं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि प्रग्रहं तु मनस्तथा ।। २८ ।।
इन्द्रियाणि हयान्विद्धि विषयांस्तेषु गोचरान् ।
इन्द्रियैर्मनसा युक्तं भोक्तारं विद्धि पूरुषम् ।। २९ ।।
एवं शान्त्यादियुक्तः सन्-नुपास्ते यः सदा द्विजः ।
उद्घाटचोद्घाटचैकमेकं यथैव कदलीतरोः ।। ३० ।।
वल्कलानि ततः पश्चाल्लभते सारमुत्तमम् ।
तथैव पञ्चकोशेषु मनः संक्रामयन् क्रमात् ।
तेषां मध्ये ततः सारमात्मानमपि विन्दति ।। ३१ ।।

शरीर के साक्षी-चैतन्य आत्मा को किसी गन्तव्य पर पहुँचने की इच्छा से रथारूढ रथस्वामी के रूप में जानो। यह स्थूल शरीर ही उसका रथ है । बुद्धि सारथी है । मन रूपी लगाम के द्वारा इन्द्रिय रूपी घोड़ों को बुद्धि चलाती है, ऐसा समझना । ये इन्द्रिय-घोड़े शब्दादि विषयों की उपलब्धि रूप मार्ग पर से इस रथ को खींच के ले जाते हैं । अतः इन्द्रिय, मन आदि संघात के साथ अध्यास द्वारा संयुक्त चैतन्य को ही भोक्ता कहना चाहिए ॥२८–२९॥

मनोनिग्रहादि साधना से सम्पन्न ब्रह्म-जिज्ञासु साधक नित्य उपासना में निरत हो, उपर्युक्त रीति से पंच कोशों में मन को ले जाते हुए युक्ति द्वारा प्रत्येक कोश से आत्मा की विलक्षणता को जानने का प्रयत्न करे। इसके अभ्यास से अन्त में इसी संघात के बीच अमृत, सारभूत आत्म-तत्त्व को वह पा लेता है। जैसे केले के स्तम्भ के ऊपर से रस हीन परतों को एक एक करके छीलते जाने पर उसके भीतर खाने लायक सफेद स्वादिष्ट गूदे की प्राप्ति होती है ॥३०–३१॥

मन के संयमी साधक को चाहिये कि उपर्युक्त वर्णन के अनुसार पंचकोशों के अधिष्ठान चैतन्य में मन को स्थिर करके सर्वोपाधि रहित, निराकार परमात्मस्वरूप की भावना में मन को

एवं मनः समाधाय संयतो मनसि द्विजः ।
अथ प्रवर्तयेच्चित्तं निराकारे परात्मनि ।। ३२ ।।
ततो मनः प्रगृह्णाति परमात्मानमव्ययम् ।
यत्तददृश्यमग्राह्यमस्थूलाद्युक्तिगोचरम् ।। ३३ ।।

श्रीराम उवाच

भगवञ्छ्रवणेनैव प्रवर्तन्ते जनाः कथम् ।
वेदशास्त्रार्थसंपन्ना यज्वानः सत्यवादिनः ।। ३४ ।।
शृण्वन्तोऽपि तथात्मानं जानते नैव केचन ।
ज्ञात्वापि मन्यते मिथ्या किमेतत् तव मायया ।। ३५ ।।

श्रीशिव उवाच

एवमेव महाबाहो नात्र कार्या विचारणा ।। ३६ ।।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। ३७ ।।

प्रवृत्त करे ।।३२।। ऐसा करने पर मन इस अविनाशी परमात्म तत्त्व को अभेद रूप से ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है, जो वास्तव में दर्शन और ग्रहण का विषय नहीं है, केवल "अस्थूल है, अणु है" आदि उपाधि-व्यावृत्ति-रूप श्रुति वाक्यों की लक्षणा से ही समझ में आता है ।।३३।।

(निर्गुणब्रह्मज्ञान प्राप्ति के इस सरल उपाय को सुनकर चमत्कृत हुए) श्रीराम नें कहा — भगवन! बहुत से ऐसे लोग हैं जो वेद शास्त्रार्थ को जानते हैं, यज्ञादि शास्त्रीय कर्मों को भी करते हैं और सत्यवादी हैं—परन्तु ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों के श्रवण में प्रवृत्ति नहीं करते । इसका क्या कारण है ? ।।३४।। कोई विरला व्यक्ति ही श्रवण में लगता है, परन्तु वह भी ठीक ठीक तत्त्व स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाता है । निर्णय होनें पर भी उसमें आस्था नहीं होती, सब को मनकी कल्पना मात्र मिथ्या समझता है । क्या यह आपकी माया शक्ति का ही प्रभाव है ? ।।३५।।

अभक्ता ये महाबाहो मम श्रद्धाविवर्जिताः ।
फलं कामयमानास्ते चैहिकामुष्मिकादिकम् ।
क्षयिष्ण्वल्पं सातिशयं यतः कर्मफलं मतम् ।। ३८ ।।
तदविज्ञाय कर्माणि ये कुर्वन्ति नराधमाः ।
मातुः पतन्ति ते गर्भे मृत्योर्वक्त्रे पुनः पुनः ।।३९।।
नानायोनिषु जातस्य देहिनो यस्यकस्यचित् ।
कोटिजन्मार्जितैः पुण्यैर्-मयि भक्तिः प्रजायते ।।४०।।
स एव लभते ज्ञानं मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः ।
नान्यकर्माणि कुर्वाणो जन्मकोटिशतैरपि ।। ४१ ।।

श्रीशिवने कहा—महाबाहु! बात तो ऐसी ही है। इसमें सन्देह नही कि यह माया का ही कार्य है ।।३६।। मेरी दिव्य त्रिगुणात्मिका माया बहुत प्रबल है, इसके प्रभाव से सहसा छूटना सम्भव नहीं जो अन्य सभी आश्रयों को छोड़कर मेरी ही शरण लेते हैं वे ही इस माया के पार जा सकते हैं ।।३७।। हे राम! जो मेरी भक्ति, गुण-गानादि में श्रद्धा नहीं रखते और इहलोक या परलोक के सुख-दुःखों की इच्छा से कर्म करने में ही लगे रहते हैं, वे माया के पार जाकर मुझे पाने में सर्वथा असमर्थ होने से नराधम हैं। उनको यह ज्ञात भी नहीं है कि कर्मफल को शास्त्रों में नाशवान, अल्प और सापेक्षिक माना है। अज्ञानवश कामनापूर्वक किये कर्मों के अनुसार ये गर्भ और मृत्यु के मुँह में बार बार गिरते रहते हैं ।।३८–३९।।

नाना योनियों में जन्म–मरण का चक्कर काटते हुए भी अनायास कुछ न कुछ निष्काम कर्म बन ही जाता है। इन स्वल्प कर्मों का करोड़ों जन्मों में संचय होकर पुण्यपुञ्ज के रूप में जब उदय होता है तब किसी जीव के अन्दर मेरे प्रति भक्तिभाव प्रकट होने लगता है ।।४०।। वही मेरा भक्त श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना

ततः सर्वं परित्यज्य मद्भक्ति समुदाहर ।। ४२ ।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।४३।।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि राम त्वं तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। ४४ ।।
ततः परतरा नास्ति भक्तिर्मयि रघूत्तम ।। ४५ ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे पञ्चकोशोपपादनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

को करते हुए कालान्तर में मेरे स्वरूप ज्ञान को प्राप्त कर लेता है । काम्य आदि अन्य कर्मों को करने वाले के लिये यह सर्वथा असम्भव है, चाहे वह असंख्य जन्मों तक प्रयत्न करे ।। ४१ ।। इसलिये तुम सभी चिन्ताओं, कामनाओं को मन से त्याग करके मेरी भक्ति का आश्रय लो ।।४२।। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के नाम, जाति, कुशलता, आदि धर्मों में अभिमान का परित्याग करके मुझ अद्वैत परमात्मस्वरूप में ही शरण लेना । मैं अपने स्वरूपज्ञान के द्वारा तुम्हें अज्ञान मूलक सारे पापों से मुक्त कर दूंगा । यह सत्य है । इसलिये इसी क्षण तुम्हें समस्त शोक-मोह को छोड़ देना चाहिए ।।४३।। हे राम! सारा लौकिक व्यवहार, भोजन आदि जीवन निर्वाह की चेष्टा, यज्ञ-दान आदि शास्त्रीय कर्म, तपस्या व्रतादि नियम, इन सबको फल समेत मुझे अर्पित कर दो ।।४४।। रघुकुलश्रेष्ठ! इस से बढ़कर मेरी भक्ति का उत्तम साधन नहीं है ।।४५।।

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक, शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में पंचकोशप्रतिपादन नामक चतुर्दश अध्याय संपूर्ण हुआ ।

पंचदशोऽध्यायः

श्रीराम उवाच ।

भक्तिस्ते कीदृशी देव जायते वा कथंच सा ।
यया निर्वाणरूपं तु लभते मोक्षमुत्तमम् ।
तद्ब्रूहि गिरिजाकान्त मयि तेऽनुग्रहो यदि ॥ १ ॥
यो वेदाध्ययनं यज्ञं दानानि विविधानि च ।
मदर्पणधिया कुर्यात् स मे भक्तः स मे प्रियः ॥ २ ॥
नर्यभस्म समादाय विशुद्धं श्रोत्रियालयात् ।
अग्निरित्यादिभिर्मंत्रैरभिमंत्र्य यथाविधि ॥ ३ ॥
उद्धूलयति गात्राणि तेन चार्चति मामपि ।
तस्मात् परतरा भक्तिर्मम राम न विद्यते ॥ ४ ॥

अध्याय १५

भक्तियोग

श्रीराम ने कहा—देव! भक्ति का क्या लक्षण है? जिसके द्वारा निर्वाण रूप मोक्ष का लाभ होता है, उस भक्ति की उत्पत्ति, वृद्धि व संरक्षण आदि के क्या उपाय हैं? गिरिजाकान्त! आप मेरे ऊपर अनुग्रह कर के यह सब बतलाइये ॥१॥

श्रीशिव ने कहा — जो व्यक्ति वेदाध्ययन, यज्ञ, दान आदि विविध स्वधर्म के कर्मों को "यह सब परमेश्वर को समर्पित हों" इस बुद्धि से करता है, वही मेरा भक्त है, वही मेरा प्रिय है ॥२॥ राम! यदि कोई पुरुष अग्निहोत्र के भस्म को श्रोत्रिय ब्राह्मण के घर से लाकर शुद्ध करके "अग्निरिति भस्म . . ." आदि वैदिक मन्त्रों से मन्त्रित करके शास्त्रोक्त विधान के अनुसार अपने

सर्वदा शिरसा कण्ठे रुद्राक्षान् धारयेत् तु यः ।
पञ्चाक्षरीजपरतः स मे भक्तः स मे प्रियः ॥ ५ ॥
भस्मच्छन्नो भस्मशायी सर्वदा विजितेन्द्रियः ।
यस्तु रुद्रं जपेन्नित्यं चिन्तयेन् मामनन्यधीः ॥ ६ ॥
स तेनैव च देहेन शिवः संजायते स्वयम् ।
जपेद्यो रुद्रसूक्तानि तथाथर्वशिरः परम् ॥ ७ ॥
कैवल्योपनिषत्सूक्तं श्वेताश्वतरमेव च ।
ततः परतरो भक्तो मम लोके न विद्यते ॥ ८ ॥
अन्यत्र धर्मादन्यस्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्प्रवक्ष्यामि तच्छृणु ॥ ९ ॥

सारे शरीर में उद्धूलन करके फिर भस्म से ही मेरी भी अर्चना-करे तो उससे बढ़कर मेरी पराभक्ति की साधना और कोई नहीं हो सकती ॥३–४॥ जो हमेशा शिरोभाग में व कण्ठ में रुद्राक्ष माला को धारण करता है और पञ्चाक्षरी मंत्र के जप में निरत है वह मेरा प्रिय भक्त है ॥५॥ भस्म से शरीर को अच्छादित कर भस्म शय्या का ही प्रयोग करने वाला यदि निरन्तर इन्द्रियजय का अभ्यास करता हुआ रुद्राष्टाध्यायी के पाठ एवं शिव-स्वरूप-चिन्तन में अनन्य भाव से तत्पर होता है तो वह उसी मर्त्य शरीर में साक्षात् शिव बनजाता है। दूसरे कुछ भक्त रुद्र-सूक्त, रुद्र-अथर्वशिर, कैवल्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि मेरे स्वरूप–प्रतिपादक वैदिक मन्त्रों का नियम से जप करते रहते हैं। संसार में इन से श्रेष्ठ मेरा भक्त कोई नहीं ॥६–८॥

धर्म-अधर्म कर्मकलाप से विलक्षण, कार्य-कारण सम्बन्ध से दूर और भूत-भविष्य-वर्तमान कालत्रय से अपरिच्छिन्न एक गूढ़ भक्ति साधन का मैं प्रतिपादन करता हूँ, तुम सावधानी से सुनो ॥९॥ समस्त वेद और तदनुसारी समस्त शास्त्र जिस पद का

वदन्ति यत्पदं वेदाः शास्त्राणि विविधानि च ।
सर्वोपनिषदां सारं दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ।। १० ।।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति मुनयः सदा ।
तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमिति यत्पदम् ।। ११ ।।
एतदेवाक्षरं ब्रह्म चैतदेवाक्षरं परम् ।
एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।१२।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।। १३ ।।
छन्दसां यस्तु धेनूनाम्-ऋषभत्वेन चोदितः ।
इदमेवावधिः सेतुरमृतस्य च धारणात् ।
मेधसा पिहितं कोशं ब्रह्मणो यत्परं मतम् ।। १४ ।।

वर्णन करते हैं, जो दही में मक्खन की तरह सारी उपनिषदों का मन्तव्य सारभूत विषय है, और जिसके अनुष्ठान की इच्छा से मुनिगण ब्रह्मचर्य व्रत का नित्य पालन करते हैं, उसको मैं संक्षेप में कहता हूँ — वह ओंकार नाम वाला पद है ॥१०-११॥ यह ओंकार ही सगुण व निर्गुण दोनों ब्रह्मरूपों का प्रतीक है । इस तत्त्व को जान कर उपासना करने से सारी कामनाओं की पूर्ति होती है ॥१२॥ यही श्रेष्ठ फलदायक साधन है, इसके अवलम्बन से परमात्म-ज्ञान भी मिल सकता है । इसकी निर्गुण उपासना से उपासक ब्रह्मस्वरूप प्राप्त कर जीवन्मुक्त बन जाता है और सगुण उपासना से ब्रह्मलोक में जाकर पूजित हो कल्पान्त में मुक्त होता है ॥१३॥ वैदिक मन्त्ररूप गायों के बीच यह ओंकार वृषभराज की तरह प्रधान रूप से शोभित होता है । मोक्ष का साधन होने से यही संसार अवधि तक ले जाने वाला पुल कहा गया है । ब्रह्म रूपी अमूल्य धन को अपने अन्दर छिपा कर रखने वाला कोश ओंकार है । यह कोश लौकिक मेधा द्वारा अवरुद्ध

चतस्रस्तस्य मात्राः स्युरकारोकारकौ तथा ।
मकारश्चावसानेऽर्धमात्रेति परिकीर्तिता ।। १५ ।।
पूर्वत्र भूश्च ऋग्वेदो ब्रह्माष्टवसवस्तथा ।
गार्हपत्यश्च गायत्री गङ्गा प्रातःसवस्तथा ।। १६ ।।
द्वितीया च भुवो विष्णू रुद्रोऽनुष्टुप् यजुस्तथा ।
यमुना दक्षिणाग्निश्च माध्यन्दिनसवस्तथा ।। १७ ।।
तृतीया च सुवः सामान्यादित्यश्च महेश्वरः ।
अग्निराहवनीयश्च जगती च सरस्वती ।। १८ ।।
तृतीयं सवनं प्रोक्त-मर्थवत्वेन यन्मतम् ।
चतुर्थी याऽवसानेऽर्धमात्रा सा सोमलोकगा ।। १९ ।।

है । (अतः लौकिक विषय–बुद्धि को त्याग कर इस शास्त्रीय विधान से इसकी उपासना करनी चाहिये :—) ।।१४।। ओंकार के अन्दर चार मात्राएँ हैं । 'अ' कार, 'उ' कार, 'म' कार और अर्द्धमात्रा नामों से उनका शास्त्रों में उल्लेख है ।।१५।। सर्व प्रथम 'अ' मात्रा से भूः व्याहृति या लोक, ऋग्वेद, ब्रह्मा, अष्ट वसु, गार्हपत्य अग्नि, गायत्री छन्द, गंगा तीर्थ, प्रातःसव यज्ञ आदि का ग्रहण होता है ।।१६।। द्वितीय 'उ' मात्रा में भुवः व्याहृति या लोक, यजुर्वेद, विष्णु, रुद्र, अनुष्टुप् छन्द, यमुना तीर्थ, दक्षिणाग्नि, माध्यन्दिनसव यज्ञ आदि का प्रतीकत्व है ।।१७।। 'सुवः' व्याहृति या लोक, सामवेद, आदित्य, महेश्वर, आहवनीय अग्नि, जगती छन्द, सरस्वती तीर्थ तृतीयसवन यज्ञ आदि तृतीय मात्रा 'म' के अर्थ रूप से समझे जाते हैं । चौथी अर्द्धमात्रा ओंकार-उच्चारणका अवसान है । वह सोमलोक का प्रतीक है । अथर्वांगिरस वेद, संवर्तक अग्नि, मरुद्गण, विराट् छन्द, सभ्य और अवसथ्य अग्नि, शतुद्रि तीर्थ, यज्ञपुच्छ आदि के अभिमानी देवता इसमें निहित हैं ।।१८–२०।। प्रथम 'अ' कार रक्तवर्ण से, द्वितीय 'उ'

अथर्वाङ्गिरसः संवर्तकोऽग्निर्मरुतस्तथा ।
विराट् सभ्यावसथ्यौ च शुतुद्रिर्यज्ञपुच्छकः ॥ २० ॥
प्रथमा रक्तवर्णा स्याद् द्वितीया भास्वरा मता ।
तृतीया विद्युदाभा स्याच्चतुर्थी शुक्लवर्णिनी ॥ २१ ॥
सर्वं जातं जायमानं तदोङ्कारे प्रतिष्ठितम् ।
विश्वं भूतं च भुवनं विचित्रं बहुधा तथा ॥ २२ ॥
जातं च जायमानं यत् तत्सर्वं रुद्र उच्यते ।
तस्मिन्नेव पुनः प्राणाः सर्वमोङ्कार उच्यते ॥ २३ ॥
प्रविलीनं तदोङ्कारे परं ब्रह्म सनातनम् ।
तस्मादोङ्कारजापी यः स मुक्तो नात्र संशयः ॥२४॥

कार उज्ज्वल (हिरण्य) वर्ण से, तृतीय 'म' कार विद्युत्प्रकाश से और अर्द्धमात्रा शुक्ल (स्फटिक) प्रभा से युक्त है। (अर्थात् इस प्रकार उनका ध्यान करना चाहिये) ॥२१॥

समस्त प्राणी और उनके निवास योग्य भुवनादि विविधता से विस्तृत सारा संसार—जो उत्पन्न है और आगे उत्पन्न होगा—वह सब ओंकार में प्रतिष्ठित है ॥२२॥ शास्त्र में कहा है कि वर्तमान और भविष्य का सारा जगत वास्तव में रुद्र रूप ही है। अध्यात्म रूपेण उस जगत में विद्यमान प्राण भी रुद्र का ही रूप हैं। प्राणों के भी अन्दर 'ओंकार' नाद रूपेण रहता है। इस प्रकार ओंकार ही रुद्र है और वही सब कुछ है ॥२३॥ ओंकार में गुह्यतम सार रूप से सनातन परब्रह्म लीन रहता है। अतः ओंकार का निरन्तर जप करने वाला (जप रूपी मन्थन के द्वारा सारभूत ब्रह्म को प्राप्त करने से) निश्चय ही मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥२४॥

श्रौताग्नि या स्मार्ताग्नि या शैवाग्नि में से उत्पन्न भस्म को एकत्रित करके शुद्ध एवं मन्त्रित कर उससे प्रणव पूर्वक मेरी पूजा

श्रौताग्नेः स्मार्तवह्नेर्वा शैवाग्नेर्वा समाहृतम् ।
भस्माभिमन्त्र्य यो मां तु प्रणवेन प्रपूजयेत् ।
तस्मात् परतरो भक्तो मम लोके न विद्यते ।। २५ ।।
शालाग्नेर्दाववह्नेर्वा भस्मादायाभिमन्त्रितम् ।
यो विलिम्पति गात्राणि स शूद्रोऽपि विमुच्यते ।।२६।।
कुशपुष्पैर्बिल्वदलैः पुष्पैर्वा गिरिसंभवैः ।
यो मामर्चयते नित्यं प्रणवेन प्रियो हि सः ।।२७।।
पुष्पं फलं समूलं वा पत्रं सलिलमेव वा ।
यो दद्यात् प्रणवे मह्यं तत्कोटिगुणितं भवेत् ।। २८ ।।
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
यस्यास्त्यध्ययनं नित्यं स मे भक्तः स मे प्रियः ।।२९।।

करने वाले से श्रेष्ठतर शिवभक्त इस लोक में कोई नहीं है ।।२५।। यदि यह भस्म उपलब्ध नहीं है तो पाकशाला की अग्नि या दावाग्नि का ही भस्म लाकर, मन्त्रित करके अपने शरीर में लेप करने से शूद्र भी समयान्तर में शुद्ध हो जाता है ।।२६।।

ओंकार–उच्चारण पूर्वक कुशपुष्प, बिल्वदल या पर्वत के जंगली पुष्पों से जो मेरी पूजा करता है वह मेरा प्रिय भक्त है ।।२७।। प्रणव से युक्त होने से पत्र, पुष्प, फल, मूल या जल मात्र का भी समर्पण करोड़ मात्रा अधिक प्रभाव वाला हो जाता है ।।२८।। कुछ साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह एवं वेद-शास्त्र अध्ययन का नित्य नियम-पूर्वक पालन करते हैं, वे भी मेरे अत्यन्त प्रिय भक्त हैं ।।२९।। सूर्यास्त के बाद प्रदोष नामक मेरे प्रिय समयविशेष में मेरे मन्दिर में जाकर नित्य पूजा करने वाला परम ऐश्वर्य को प्राप्त करके तदनन्तर पराभक्ति के प्रभाव से मुझ में लीन हो जाता है ।।३०।। कृष्णपक्ष की अष्टमी एवं चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा की तिथि में मध्यरात्रि के समय स्नान से शुद्ध होकर, सभी अंगों को भस्मालंकृत कर के विशेष

प्रदोषे यो मम स्थानं गत्वा पूजयते तु माम् ।
स परां श्रियमाप्नोति पश्चान्मयि विलीयते ।।३०।।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पर्वणोरुभयोरपि ।
भूतिभूषितसर्वांगो यः पूजयति मां निशि ।
कृष्णपक्षे विशेषेण स मे भक्तः स मे प्रियः ।।३१।।
एकादश्यामुपोष्यैव यः पूजयति मां निशि ।
सोमवारे विशेषेण स मे भक्तो न नश्यति ।। ३२ ।।
पञ्चामृतैः स्नापयेद् यः पञ्चगव्येन वा पुनः ।
पुष्पोदकैः कुशजलैस्तस्मान्नान्यः प्रियो मम ।। ३३ ।।
पयसा सर्पिषा वापि मधुनेक्षुरसेन वा ।
पक्वाम्रफलजेनापि नारिकेलजलेन वा ।। ३४ ।।
गन्धोदकेन वा मां यो रुद्रमंत्रं समुच्चरन् ।
अभिषिञ्चेत्ततो नान्यः कश्चित्प्रियतरो मम ।।३५।।
आदित्याभिमुखो भूत्वा ऊर्ध्वबाहुर्जले स्थितः ।
मां ध्यायन् रविबिम्बस्थमथर्वाङ्गिरसं जपेत् ।। ३६ ।।

रूप से मेरी पूजा करने वाला निश्चय ही मेरा भक्त है ।।३१।। (दोनों पक्षों की) एकादशी तिथि में और प्रत्येक सोमवार का उपवास रखते हुए मध्यरात्रि में मेरी पूजा करने वाला भक्त कभी विनाश को (आत्मविस्मृति को) प्राप्त नहीं करता ।।३२।।

पञ्चामृत, पञ्चगव्य, पुष्पोदक (गुलाबजल), कुशजल, शहद, गन्ने के रस, पके आम के रस, गन्धमिश्रित जल, नारियल के जल, केवल दूध या शुद्ध जलमात्र से भी मेरा अभिषेक करते हुए रुद्र मन्त्रों का जो जप किया जाता है, वह मेरे लिये अत्यन्त तोषकर है ।।३३-३५।। कमर तक जल में खड़ा, सूर्याभिमुख एवं ऊर्ध्वबाहु होकर अथर्वाङ्गिरस मन्त्रों के जप पूर्वक सूर्यबिंब में

प्रविशेन्मे शरीरेऽसौ गृहं गृहपतिर्यथा ।
बृहद्रथन्तरं वामदेव्यं देवव्रतानि च ।। ३७ ।।
तद्योगानाज्यदोहांश्च यो गायति ममाग्रतः ।
इह श्रियं परां भुक्त्वा मम सायुज्यमाप्नुयात् ।।३८।।
ईशावास्यादि मंत्रान् यो जपेन्नित्यं ममाग्रतः ।
मत्सायुज्यमवाप्नोति मम लोके महीयते ।। ३९ ।।
भक्तियोगो मया प्रोक्त एवं रघुकुलोद्भव ।
सर्वकामप्रदो मत्तः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।। ४० ।।

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे भक्तियोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

जो मेरे स्वरूप का ध्यान करता है वह मेरे दिव्य शरीर में वैभव के साथ इस प्रकार अनायास प्रवेश करता है जैसे स्वगृह में गृह स्वामी । बृहद्रथन्तर, वामदेव्य, देवव्रत, आज्यदोह आदि विभिन्न सामवेद मन्त्रों का मेरी सन्निधि में गान करने वाला इस लोक में अनुपम ऐश्वर्य का भोग करके मृत्यु के बाद सायुज्य को प्राप्त होता है ।।३७–३८।। ईशावास्यादि मेरे स्वरूप प्रतिपादक उपनिषद् मन्त्रों का शिवसन्निधि में पाठ करने वाला भी शिव-सायुज्य या शिवलोक-वैभव को प्राप्त करता है ।।३९।। रघुकुल में उत्पन्न राम ! मैंने भक्ति के विविध साधनों का वर्णन किया है । यह भक्तियोग सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला है । इससे अतिरिक्त और क्या सुनना चाहते हो ? ।।४०।।

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योग प्रतिपादक, शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में भक्तियोग नामक पंचदश अध्याय संपूर्ण हुआ ।

षोडशोऽध्यायः

श्रीराम उवाच ।

भगवन् मोक्षमार्गो यस्त्वया सम्यगुदाहृतः ।
तत्राधिकारिणं ब्रूहि तत्र मे संशयो महान् ॥ १ ॥

श्रीशिव उवाच

ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चात्राधिकारिणः ।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वाऽनुपनीतोऽथवा द्विजः ॥ २ ॥

अध्याय १६

अधिकारी निरूपण

श्रीराम ने कहा — भगवन! आपने जिस मोक्ष मार्ग का सम्पूर्ण प्रतिपादन किया है उसमें किसका अधिकार है और किसका नहीं है । आप इस महत्त्वपूर्ण एवं सन्दिग्ध विषय पर प्रकाश डालने की कृपा करें ॥१॥

श्रीशिव ने कहा — इस मार्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्ण के स्त्री व पुरुष दोनों अधिकारी हैं । ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी चारों आश्रम वाले इस शिवगीता साधना के अधिकारी हैं । उपनयन संस्कार के सम्पन्न होने के पूर्व भी यदि कोई द्विजकुमार तीव्रबुद्धि व मोक्षेच्छा वाला है तो इसमें प्रवेश कर सकता है । इसी प्रकार पाशुपत व्रत वाला विधुर (जिसकी स्त्री मर चुकी हो) आदि कोई भी हो, शिवार्चन में प्रेम रखने वाला मानवमात्र इस शिवयोग का अभ्यास कर सकता है, अन्य भावना वाले किसी भी परिस्थिति में इसके अधिकारी नहीं हो सकते । जड़ बुद्धिवाला, अन्धा, बहरा,

वनस्थो वाऽवनस्थो वा यतिः पाशुपतव्रती ।
बहुनात्र किमुक्तेन यस्य भक्तिः शिवार्चने ।। ३ ।।
स एवात्राधिकारी स्यान् नान्यचित्तः कथंचन ।
जडोऽन्धो बधिरो मूको निःशौचः कर्मवर्जितः ।।४।।
अज्ञोपहासकाऽभक्ता भूतिरुद्राक्षधारिणः ।
लिङ्गिनो यश्च वा द्वेष्टि ते नैवात्राधिकारिणः ।।५।।
यो मां गुरुं पाशुपतं व्रतं द्वेष्टि धराधिप ।
विष्णुं वा न स मुच्येत जन्मकोटिशतैरपि ।। ६ ।।
अनेककर्मसक्तोऽपि शिवज्ञानविवर्जितः ।
शिवभक्तिविहीनश्च संसारी नैव मुच्यते ।। ७ ।।
आसक्ताः फलरागेण ये त्ववैदिककर्मणि ।
दृष्टमात्रफलास्ते तु न मुक्तावधिकारिणः ।। ८ ।।

गूंगा, रोगादि के कारण शौचाचरण में असमर्थ, शास्त्रोय कर्म रहित, अनाचारी, अज्ञानी पुरुषों का उपहास करने वाला, भक्ति हीन, विभूति–रुद्राक्ष धारण करके शिवलिंगार्चन में प्रवृत्त भक्तों का द्वेषक या अहित चिन्तक—ये सब शिवगीता के अनधिकारी हैं ॥२–५॥ राजन! शिव, विष्णु, गुरु और पाशुपत-व्रतादि से घृणा करने वाला अरबों जन्मों तक मुक्ति मार्ग का आश्रयण नहीं कर सकेगा ॥६॥ अनेक लौकिक कार्यों में कुशल व सफल होने पर भी शिवज्ञान और शिवभक्ति रहित संसारी पुरुष बन्धन से नहीं छूटता ॥७॥ शास्त्रगर्हित फलों की कामना से वेद विरुद्ध तन्त्रादि में बताये कर्मों में सदा निरत रहने वाले यह नहीं जानते कि प्रत्यक्ष व शीघ्र सिद्ध होने पर भी वे फल अनिष्टकारक और अनित्य होने से फलाभास मात्र हैं । ऐसे अनुष्ठान में आसक्त पुरुष भी कभी मुक्ति मार्ग के अधिकारी नहीं हो सकते ॥८॥

अविमुक्ते द्वारकायां श्रीशैले पुण्डरीकके ।
देहान्ते तारकं ब्रह्म लभते मदनुग्रहात् ॥ ९ ॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥ १० ॥
विप्रस्यानुपनीतस्य विधिरेवमुदाहृतः ।
नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥ ११ ॥
स शूद्रेण समस्तावद् यावद् वेदान्न जायते ।
नामसंकीर्तने ध्याने सर्व एवाधिकारिणः ॥ १२ ॥
संसारान्मुच्यते जन्तुः शिवतादात्म्यभावनात् ।

अविमुक्त (काशी), द्वारिका, श्रीशैल और पुण्डरीक (व्याघ्रपुर या चिदम्बरम) में व्रत लेकर विधिपूर्वक निवास करने वाले को मृत्यु के बाद मैं कृपापूर्वक प्रणव का उपदेश देता हूँ जिससे वे क्रमशः मुक्त हो जाते हैं ॥९॥ परन्तु यह तीर्थफल उसी को प्राप्त है जो हस्त–चरण–मन आदि को संयम में रखता है और दंभ रहित होकर अपनी उपासना, तप और धर्म-जनित कीर्ति का संग्रह करता है ॥१०॥

यज्ञोपवीत रहित ब्राह्मण के लिये विधान यही है कि वह वैदिक-मन्त्रों का उच्चारण न करे, अन्य पौराणिक आदि मन्त्रों का ही प्रयोग करे। यदि उसी अवस्था में माता–पिता का श्राद्ध सम्पन्न करना है तो यह निषेध प्रसक्त नहीं होता । जब तक वह विप्र उपनयन संस्कार द्वारा द्विज नहीं बनता तब तक अन्य सभी कार्यों में शूद्र तुल्य ही अधिकारी है। भगवन्नाम संकीर्तन एवं ध्यान में द्विज एवं द्विजेतर सभी समान अधिकार रखते हैं ॥११–१२॥

तादात्म्य भावना ("वही मैं हूँ") के साथ शिवध्यान करने से सभी प्राणी संसार बन्धन से छूट जाते हैं । अतः दान,

तथा दानं तपो वेदाध्ययनं चान्यकर्म वा ।
सहस्रांशं तु नार्हन्ति सर्वदा ध्यानकर्मणः ।। १३ ।।
जातिमाश्रममङ्गानि देशं कालमथापि वा ।
आसनादीनि कर्माणि ध्यानं नापेक्षते क्वचित् ।।१४।।
गच्छंस्तिष्ठन् जपन्वापि शयानो वान्यकर्मणि ।
पातकेनापि वा युक्तो ध्यानादेव विमुच्यते ।।१५।।
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।१६।।
आश्चर्ये वा भये शोके क्षुते वा मम नाम यः
व्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ।।१७।।

तप, वेदाध्ययन आदि अन्य कोई भी पुण्यकर्म नित्य शिवध्यान के सहस्रांश प्रभाव को भी नहीं रखते ।।१३।। ध्यान साधना में जाति, आश्रम, देश, काल एवं अङ्गन्यासादि अन्य कर्मों के विषय में विचार करने की भी आवश्यकता नहीं है ।।१४।। चलते, लेटे, खड़े, पाठ करते या अन्य किसी कार्य को करते हुए भी, चाहे पापी क्यों न हो, ध्यान का अभ्यास करता हो तो उसी के बल से सारे दोषों से मुक्त हो जाता है ।।१५।। प्रारम्भ किया हुआ ध्यानाभ्यास यदि बीच में भग्न हो जाता है तो अपूर्ण-यज्ञ-कर्म की तरह इस प्रयास का फल तनिक भी नष्ट नहीं होता । इस में नित्य कर्म का त्याग न होने से प्रत्यवाय रूपी दोष भी उत्पन्न नहीं होता । अल्प अनुष्ठित ध्यान कर्म भी मृत्यु रूपी महाभय से रक्षा करने में समर्थ है । आश्चर्य, भय, शोकादि भावना वेग से, छींक आने से या किसी भी बहाने से मेरे नाम का जो नियम से स्मरण करता है, वह अन्त में सद्गति को प्राप्त करता है ।।१७।। महापातक से युक्त व्यक्ति भी मरण समय में मेरा स्मरण या पञ्चाक्षरी मन्त्र का उच्चारण करता है तो वह नरक योनि

महापापैरपि स्पृष्टो देहान्ते यस्तु मां स्मरेत् ।
पञ्चाक्षरीं वोच्चरति स मुक्तो नात्र संशयः ॥१८॥
विश्वं शिवमयं यस्तु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
तस्य क्षेत्रेषु तीर्थेषु किं कार्यं वान्यकर्मसु ॥ १९ ॥
सर्वेण सर्वदा कार्यं भूतिरुद्राक्षधारणम् ।
युक्तेनाथाप्ययुक्तेन शिवभक्तिमभीप्सता ॥ २० ॥
नर्यभस्म समायुक्तो रुद्राक्षान् यस्तु धारयेत् ।
महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र संशयः ॥ २१ ॥
अन्यानि शैवकर्माणि करोतु न करोतु वा ।
शिवनाम जपेद्यस्तु सर्वदा मुच्यते तु सः ॥ २२ ॥

से छूट जाता है, यह असन्दिग्ध है ॥१८॥ सम्पूर्ण विश्व को एवं अपने आत्मस्वरूप को हमेशा शिवमय देखने वाले ज्ञानी पुरुष को तो शरीर प्राप्ति और निवृत्ति, तीर्थ सेवन या अन्य किसी भी पुण्य कर्म से क्या लाभ हो सकता है? (क्यों कि वह तो कृतकृत्य और परिपूर्ण ही है) ॥१९॥

शिवभक्ति की वृद्धि की कामना वाले सभी को सर्वदा भस्म और रुद्राक्ष को शरीर पर धारण करना आवश्यक है, चाहे वे योगाभ्यासी हों या न हों ॥२०॥ अग्निहोत्र से प्राप्त भस्म एवं रुद्राक्ष को धारण करने वाले महापातकों के दोष से भी निश्चय ही शुद्ध हो जाते हैं ॥२१॥ अन्य शैव कर्म करे या न करे, यदि कोई नित्य नियम से शिवनाम जप करता है तो वह मुक्ति का भागी बन जाता है ॥२२॥ मरण के समय शरीर पर यदि रुद्राक्ष और विभूति धारण या बिल्ववृक्ष मूल की मृत्तिका का लेप किया हो तो उसके पास यम किङ्कर नहीं आते हैं । उस समय प्राचीन जन्मों के महापाप, उपपाप आदि दुरित समूह के उदय होने पर भी इस शिवचिन्ह के प्रभाव से यमलोक लेजाने वाले दूर भाग जाते हैं और उस मनुष्य की सद्गति हो जाती है ॥२३–२४॥

अन्तकाले तु रुद्राक्षान् विभूतिं धारयेत्तु यः ।
महापापोपपापौघैरपि स्पृष्टो नराधमः ।
सर्वथा नोपसर्पन्ति तं जनं यमकिङ्कराः ॥ २३ ॥
बिल्वमूलमृदा यस्तु शरीरमुपलिम्पति ।
अन्तकालेऽन्तकजनैः स दूरीक्रियते नरः ॥ २४ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् पूजितः कुत्र कुत्र वा त्वं प्रसीदसि ।
तद्ब्रूहि मम जिज्ञासा वर्तते महती विभो ॥ २५ ॥

श्रीशिव उवाच

मृदा वा गोमयेनापि भस्मना चन्दनेन वा
सिकताभिर्दारुणा वा पाषाणेनापि निर्मिता ॥२६॥
लोहेन वाथ रङ्गेण कांस्यखर्परपित्तलैः ।
ताम्ररौप्यसुवर्णैर्वा रत्नैर्नानाविधैरपि ॥ २७ ॥
अथवा पारदेनैव कर्पूरेणाथवा कृता ।
प्रतिमा शिवलिङ्गं वा द्रव्यैरेतैः कृतं तु यत् ॥२८॥

श्रीराम ने कहा — भगवन! जिन जिन प्रतीकों में जिस जिस प्रकार से पूजित होने पर आपकी विशेष प्रसन्नता का लाभ होता उन सब के प्रति मेरी तीव्र जिज्ञासा है। विभो! आप अपने उपदेश से इस जिज्ञासा को पूर्ण करें ॥२५॥

श्रीशिव ने कहा — मेरी प्रतिमा या शिवलिंग निर्माण के नाना प्रकार के द्रव्य इस प्रकार हैं — मृत्तिका, गोबर, भस्म, चन्दन, बालू, काष्ठ, पत्थर, लोहा, राँगा, काँसा, जस्ता, पीतल, ताँबा, चाँदी, सोना, सभी प्रकार के मूल्यवान-रत्न, पारा और कपूर ॥२६–२८॥ उपर्युक्त द्रव्यों का क्रमशः उत्तरोत्तर करोड़गुना प्रभाव है। गृहस्थी अपने घर में चिरस्थायी कल्याण की इच्छा से मिट्टी, लकड़ी, काँसा, लोहा या पत्थर से मेरी प्रतिमा का निर्माण व प्रतिष्ठा करे।

तत्र मां पूजयेत् तेषु फलं कोटिगुणोत्तरम् ।
मृद्दारुकांस्यलोहैश्च पाषाणेनापि निर्मिता ।। २९ ।।
गृहिणा प्रतिमा कार्या शिवं शश्वदभीप्सता ।
आयुः श्रियं कुलं धर्मं पुत्रानाप्नोति तैः क्रमात् ।।३०।।
बिल्ववृक्षे तत्फले वा यो मां पूजयते नरः ।
परां श्रियमिह प्राप्य मम लोके महीयते ।। ३१ ।।
बिल्ववृक्षं समाश्रित्य यो मंत्रान्विधिना जपेत् ।
एकेन दिवसेनैव तत्पुरश्चरणं भवेत् ।। ३२ ।।
यस्तु बिल्ववने नित्यं कुटीं कृत्वा वसेन्नरः ।
सर्वे मंत्राः प्रसिद्ध्यन्ति जपमात्रेण केवलम् ।। ३३ ।।
पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले शिवालये ।
अग्निहोत्रे केशवस्य संनिधौ वा जपेत्तु यः ।। ३४ ।।
नैवास्य विघ्नं कुर्वन्ति दानवा यक्षराक्षसाः ।
तं न स्पृशंति पापानि शिवसायुज्यमृच्छति ।। ३५ ।।

उसके पूजन से क्रमशः आयु, ऐश्वर्य, कुल की उन्नति, उत्कृष्ट पुण्य और पुत्रप्राप्ति होती है ।।२९–३०।। बिल्व वृक्ष या बिल्व फल को मेरा प्रतीक मानकर उसकी पूजा करने वाला इहलोक में और मृत्यु के बाद शिवलोक में महान ऐश्वर्य को प्राप्त करता है ।। ३१।। बिल्व वृक्ष के नीचे बैठकर विधिपूर्वक मन्त्रजप करने से कुछ दिन में ही उस मन्त्र के पुरश्चरण का फल मिल जाता है ।। ३२।। बिल्व वन में कुटिया बनाकर निवास करने वाले के लिये सभी मन्त्र केवल जप से ही सिद्ध हो जाते हैं ।।३३।। पर्वत शिखर, नदीतट, बिल्ववृक्ष के मूल, शिवालय, अग्निहोत्रशाला या विष्णुमन्दिर में अनुष्ठान करने से दानव, यक्ष, राक्षस आदि से उत्पन्न होनेवाली बाधाओं की निवृत्ति हो जाती है और वह पाप-विमुक्त हो शिव-सायुज्य को प्राप्त करता है ।। ३४–३५।।

स्थण्डिले वा जले वह्नौ वायावाकाश एव वा ।
गुरौ स्वात्मनि वा यो मां पूजयेत् प्रयतो नरः ।
स कृत्स्नं फलमाप्नोति लवमात्रेण राघव ।। ३६ ।।
आत्मपूजा समा नास्ति पूजा रघुकुलोद्भव ।
मत्सायुज्यमवाप्नोति चण्डालोऽप्यात्मपूजया ।। ३७ ।।
सर्वान् कामानवाप्नोति मनुष्यः कम्बलासने ।
कृष्णाजिने भवेन्मुक्तिर्मोक्षश्रीर्व्याघ्रचर्मणि ।। ३८ ।।
कुशासने भवेज्ज्ञानमारोग्यं पत्रनिर्मिते ।
पाषाणे दुःखमाप्नोति काष्ठे नानाविधान् गदान् ।।३९।।

हे राघव ! यज्ञार्थ परिष्कृत भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश (इन पञ्चमहाभूतों में), ज्ञानप्रदाता गुरु में या अपने ही आत्मस्वरूप में "यही शिव है" इस बुद्धि से एकाग्र चित्त होकर पूजन करने वाला पुरुष अल्प उपचार से ही सम्पूर्ण पूजाफल प्राप्त करता है ।।३६।। रघुकुलशिरोमणि राम ! इन सब में श्रेष्ठतम और अनुपम आत्मपूजा ही है । चाण्डाल भी आत्मपूजा के द्वारा शिव-सायुज्य-मुक्ति का भागी बनजाता है ।। ३६ ।।

(जप आदि उपासना के उपयुक्त आसनों का विधान इस प्रकार है) सब से सरल व श्रेष्ठ कम्बलासन है । इसके प्रयोग से मनुष्य को सारी कामनायें पूर्ण होती हैं । मुक्तिकामी विरक्त साधक कृष्णाजिन (कालेमृग-चर्म) का प्रयोग करे । योगीपुरुष व्याघ्रचर्म के आसन पर बैठ अष्टैश्वर्ययुक्त मोक्षका प्रयत्न करता है ।।३८।। विद्याप्राप्तिके लिये कुशासन एवं स्वास्थ्य प्राप्ति के लिये कोमल पत्तेका आसन उपयुक्त है । पाषाण, काष्ठ और सूतीवस्त्र के आसन पर जप करने से क्रमशः दुःख, शारीरिक रोग और दरिद्रता की प्राप्ति होती है । बिना आसन केवल भूमि पर ही बैठकर जपने से मन्त्र की सिद्धि नहीं हो पाती । जप, पूजादि काल में पूर्व या उत्तर की दिशा में मुँह करके बैठना चाहिये ॥ ३९–४० ॥

वस्त्रे न श्रियमाप्नोति भूमौ मन्त्रो न सिद्ध्यति ।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि जपं पूजां समारभेत् ॥ ४० ॥
अक्षमालाविधिं वक्ष्ये शृणुष्वावहितो नृप ।
साम्राज्यं स्फटिको दद्यात् पुत्रजीवः परां श्रियम् ॥४१॥
आत्मज्ञानं कुशग्रन्थी रुद्राक्षः सर्वकामदः ।
प्रवालैश्च कृता माला सर्वलोकवशप्रदा ॥ ४२ ॥
मोक्षप्रदा च माला स्यादामलक्याः फलैः कृता ।
मुक्ताफलैः कृता माला सर्वविद्याप्रदायिनी ॥ ४३ ॥
माणिक्यरचिता माला त्रैलोक्यस्य वशंकरी ।
नीलैर्मरकतैर्वापि कृता शत्रुभयप्रदा ॥ ४४ ॥
सुवर्णरचिता माला दद्याद् वै महतीं श्रियम् ।
तथा रौप्यमयी माला कन्यां यच्छति कामिताम् ॥४५॥
उक्तानां सर्वकामानां दायिनी पारदैः कृता ॥४६॥

हे राजन ! अब मैं जपमाला की विधि बतलाता हूँ, सावधानी से सुनो । स्फटिक माला से साम्राज्य, पुत्रजीव (जीवापोती) से विपुल धन, कुशग्रन्थि से आत्मज्ञान और रुद्राक्ष से समस्त वांछित पदार्थों की प्राप्ति होती है । प्रवाल (मूँगे) की माला वशीकरण प्रयोग में और आँवले के फलों की माला मोक्ष साधन में विनियुक्त है । मोतियों की माला सर्वविद्या प्रदायिनी है ॥४१–४३॥ समस्त त्रिलोकी को वश में करने की इच्छावाला माणिक्य से बनी माला का एवं शत्रु का शमन करने वाला नीलम या मरकत की माला का प्रयोग करता है ॥४४॥ सुवर्ण मणियों की माला से महान धन राशि की और चाँदी की माला से वांछित कन्या की प्राप्ति होती है ॥४५॥ उपर्युक्त सभी इष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराने वाली माला पारे की मणियों की है ॥४६॥ १०८ दानों की माला उत्तमोत्तम है । माला में १०० मणि होने से उत्तमा तथा

अष्टोत्तरशता माला तत्र स्यादुत्तमोत्तमा ।
शतसंख्योत्तमा माला पञ्चाशन्मध्यमा मता ॥४७॥
चतुःपञ्चाशता यद् वा अधमा सप्तविंशतिः ।
अधमा पञ्चविंशत्या यदि स्याच्छतनिर्मिता ॥४८॥
पञ्चाशदक्षराण्यत्रानुलोमप्रतिलोमतः ।
इत्येवं स्थापयेत् स्पष्टं न कस्मैचित्प्रदर्शयेत् ॥४९॥
वर्णविन्यस्तया यस्तु क्रियते मालया जपः ।
एकवारेण तस्यैव पुरश्चर्या कृता भवेत् ॥५०॥
सव्यपार्ष्णिं गुदे स्थाप्य दक्षिणं च ध्वजोपरि ।
योनिमुद्राबन्ध एष भवेदासनमुत्तमम् ॥५१॥
योनिमुद्रासने स्थित्वा प्रजपेद् यः समाहितः ।
यं कंचिदपि वा मन्त्रं तस्य स्युः सर्वसिद्धयः ॥५२॥

---

५० मणि होने से मध्यमा मानी गई है ॥४७॥ ५४ मणियों से भी मध्यमा माला बनती है । २७ मणियों की अधमा है । यदि १०० मणियों की माला हो तो उसकी एक एक मणि में वर्णमाला के ५० अक्षरों में से एक एक से अनुलोम और विलोम क्रम से न्यास करें । इस प्रकार वर्णन्यास से सम्पन्न माला का इतना प्रभाव है कि एक माला का जप हजारों माला के पुरश्चरण तुल्य हो जाता है । ऐसी माला को सब की दृष्टि में खुली जगह नहीं रखना चाहिए ॥४८–५०॥

वाम पाद की एड़ी को गुदास्थान में दृढ़ता पूर्वक रखकर दाहिनी एड़ी को जननेन्द्रिय के मूल में रखने से योनिमुद्राबन्ध सिद्ध होता है । यह योगासनों में श्रेष्ठ है ॥५१॥ योनिमुद्रासन में स्थित होकर समाहित चित्त से जिस किसी भी मन्त्र का जप किया जाय — चाहे वह छिन्न, रुद्ध, स्तम्भित, मिलित, मूर्छित, सुप्त, मत्त, वीर्य हीन, दग्ध, त्रस्त, अरिपक्षग, बाल, यौवन, वृद्ध

छिन्ना रुद्धाः स्तम्भिताश्च मिलिता मूर्छितास्तथा
सुप्ता मत्ता हीनवीर्या दग्धत्रस्तारिपक्षगाः ॥५३॥
बाला यौवनमत्ताश्च वृद्धा मन्त्राश्च ये मताः ।
योनिमुद्रासने स्थित्वा मन्त्रानेवंविधान् जपेत् ॥ ५४ ॥
तस्य सिद्ध्यन्ति ते मन्त्रा नान्यस्य तु कथंचन ।
ब्राह्मं मुहूर्तमारभ्यामध्याह्नं प्रजपेन्मनुम् ॥ ५५ ॥
अत ऊर्ध्वं कृते जाप्ये विनाशाय भवेद्ध्रुवम् ।
पुरश्चर्याविधावेवं सर्वकाम्यफलेष्वपि ॥ ५६ ॥
नित्ये नैमित्तिके वापि तपश्चर्यासु वा पुनः ।
सर्वदैव जपः कार्यो न दोषस्तत्र कश्चन ॥ ५७ ॥
यस्तु रुद्रं जपेन् नित्यं ध्यायमानो ममाकृतिम् ।
षडक्षरं वा प्रणवं निष्कामो विजितेन्द्रियः ॥ ५८ ॥
तथाथर्वशिरोमंत्रं कैवल्यं वा रघूत्तम ।
स तेनैव च देहेन शिवः संजायते स्वयम् ॥ ५९ ॥

आदि विविध प्रकार के दोषयुक्त मन्त्र क्यों न हो — उसकी सर्व सिद्धि हो जाती है । अन्य आसनों के अवलम्बन से इस प्रकार के मन्त्रों को सिद्ध करना असंभव सा है । ब्राह्ममुहूर्त से आरम्भ करके मध्याह्न पर्यन्त मन्त्र का जप हो सकता है । उसके बाद जप करने से निश्चय ही हानि होती है । परन्तु यह विधान मन्त्र पुरश्चरण एवं काम्य कर्मों के लिये ही है । नित्य और नैमित्तिक कर्मों एवं निष्काम तपश्चर्यादि में सर्वदा सभी कालों में जप कर सकते हैं, उसमें कोई दोष प्रसक्ति नहीं है ॥५१–५७॥

हे रघुकुल-शिरोमणि ! रुद्री, अथर्वशिर, कैवल्योपनिषद्, षडक्षरी या प्रणव का जप करते हुए मेरे स्वरूप का ध्यान करनेवाला निष्काम एवं जितेन्द्रिय साधक इसी जीवन में शिवरूप हो जाता है ॥५८–५९ ॥

अधीते शिवगीतां यो नित्यमेतां जितेन्द्रियः ।
शृणुयाद् वा स मुक्तः स्यात् संसारान्नात्र संशयः ॥६०॥

सूत उवाच ।

एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत ।
रामः कृतार्थमात्मानमभन्यत तथैव सः ॥ ६१ ॥
एवं मया समासेन शिवगीता समीरिता ।
एतां यः प्रजपेन्नित्यं शृणुयाद् वा समाहितः ॥ ६२ ॥
एकाग्रचित्तो यो मर्त्यस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता ।
अतः शृणुध्वं मुनयो नित्यमेतां समाहिताः ॥ ६३ ॥
अनायासेन वो मुक्तिर्–भविता नात्र संशयः ।
कायक्लेशो मनःक्षोभो धनहानिर्न चात्मनः ॥ ६४ ॥
पीडास्ति श्रवणादेव यस्मात् कैवल्यमाप्नुयात् ।
शिवगीतामतो नित्यं शृणुध्वमृषिसत्तमाः ॥ ६५ ॥

जो साधक समस्त इन्द्रियों को संयमित रखते हुए इस शिवगीता का नित्य अध्ययन करता है या दूसरे से सुनता है वह भी संसार से मुक्त हो जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं ॥६०॥

सूतजी ने कहा — ऐसा कहकर महादेवजी उसी जगह अदृश्य हो गये । राम भी अपने आपको कृतार्थ मानकर सन्तुष्ट हुए ॥६१॥ इस प्रकार मैं ने शिवगीता नामक उपदेश को संक्षेप में और स्पष्ट रूप से आप लोगों के लिये प्रतिपादित किया । समाहित चित्त से एकाग्र होकर जो मनुष्य इसका पाठ या श्रवण करेगा उसके हाथ में ही मुक्ति है । हे मुनिगण ! इसलिये आप भी शान्तमना होकर नित्य इसका श्रवण करें ॥६२–६३॥ इससे बिना किसी परिश्रम के आप लोग निश्चित रूप से मुक्ति को प्राप्त कर सकेंगे । क्योंकि श्रवण करने में स्वयं को शरीरकष्ट, मनकी व्यग्रता, धनहानि या किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव संभव नहीं और

ऋषय ऊचुः ।

अद्यप्रभृति नः सूत त्वमाचार्यः पिता गुरुः ।
अविद्यायाः परं पारं यस्मात्तारयितासि नः ॥ ६६ ॥
उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
तस्मात् सूतात्मज त्वत्तः सत्यं नान्योऽस्ति नो गुरुः ॥६७॥
इत्युक्त्वा प्रययुः सर्वे सायंसंध्यामुपासितुम् ।
स्तुवन्तः सूतपुत्रं ते संतुष्टा गोमतीतटम् ॥ ६८ ॥

इति श्रीपद्मपुराणे उपरिभागे शिवगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीशिवराघवसंवादे गीताधिकारिनिरूपणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

॥ श्रीशिवगीता संपूर्णा ॥

इस श्रवण से ही कैवल्य मोक्ष मिल जाता है । अतः ऋषियों में श्रेष्ठ! आप शिवगीता का नित्य श्रवण करें ॥६४–६५॥

ऋषियों ने कहा — हे सूत! आज से आप ही हमारे पिता हैं और आचार्य गुरु हैं । आपने हमें अविद्या से परे उस उत्कृष्ट तत्त्व में ले जाकर तार दिया है ॥६६॥ शरीर को जन्म देने वाले से और गायत्री आदि वेद मन्त्राक्षर सुनाने वाले से भी ब्रह्मतत्त्व का साक्षात् ज्ञान कराने वाला वरिष्ठ होता है और यही वास्तविक जन्म है । अतः सूतपुत्र! यह सत्य है कि आप के सिवा हमारा गुरु या पिता और कोई नहीं है ॥६७॥

ऐसा कहकर सूतजी से प्रणामपूर्वक विदा ले, श्रीसूत की स्तुति करते हुए समस्त ऋषिगण अत्यन्त प्रसन्नता से सायं सन्ध्योपासना के लिये गोमती तट की ओर चल दिये ॥६८॥

इस प्रकार श्रीपद्मपुराण के उपरिभाग में श्रीशिवराघवसंवादरूप, ब्रह्मविद्या एवं योगप्रतिपादक, शिवगीता–उपनिषद् शास्त्र में अधिकारीनिरूपण नामक षोडश अध्याय संपूर्ण हुआ ॥

॥ श्रीशिवगीता संपूर्ण हुई ॥

विशेष व्याख्या

अध्याय १

श्लोक १

ब्रह्मसूत्र, धर्मसूत्र और योगसूत्र आदि आर्षग्रन्थों की भाँति श्रीशिवगीता भी 'अथ' शब्द से प्रारम्भ होती है। इस 'अथ' के प्रयोग के दो प्रयोजन हैं:—

"ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कंठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान् माङ्गलिकावुभौ ॥

के अनुसार सृष्टि के प्रथम स्पन्दन रूप से ब्रह्माजी के कण्ठ से निकलने के कारण 'ॐ' और 'अथ' दोनों मांगलिक माने गये हैं। यहाँ उस 'अथ' के प्रयोग से मंगलाचरण हो गया है। ग्रन्थ की रचना और प्रचय में विघ्नों के निवारणार्थ एवं शिष्टाचार की रक्षा के लिये भी मंगलाचरण आवश्यक है।

'अथ' का शब्दार्थ है 'अनन्तर' (=बाद में)। इस के द्वारा उपदेश प्रारंभ के पूर्व की कुछ सूचना हो रही है। उपदेश उसी को दिया जाता है जो उस के लिये अधिकारी है। 'अथ' शब्द से श्रोताओं की वेदान्त श्रवण में अधिकार–सम्पन्नता सूचित की गई है। वेदान्त शास्त्रों में सर्वत्र, विवेक, वैराग्य, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान के षट्-सम्पत्ति-समूह एवं मुमुक्षुता रूपी साधनचतुष्टय से सम्पन्न को ही अधिकारी माना गया है। सूतजी जिन ऋषियों को शिवगीता का उपदेश सुना रहे हैं, वे इन साधनों से सम्पन्न हैं तथा कर्म से चित्तशुद्धि और ईश्वरोपासना में परिपक्वता प्राप्त कर चुके हैं। यह बात इसी अध्याय के अन्तिम श्लोक में 'भक्तियोगिनः' सम्बोधन से पुष्ट हो जाती है।

'अथ' से उपदेश के औचित्य को बताकर 'अतः' (=इसलिये) से उसकी आवश्यकता को बतलाया है। साधक चाहे जितना भी अधिकारी क्यों न हो, कितना हो साधन संपन्न क्यों न हो, जब तक गुरुमुख से तत्त्वोपदेश का श्रवण नहीं करता तब तक ज्ञानोदय नहीं होगा। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" (मुंडक १. २. १२) आदि श्रुति इस में प्रमाण हैं। उपर्युक्त श्रुति में "स गुरु" की व्याख्या में कहा गया है कि उपदेष्टा गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो। इस योग्यता के बिना उपदेश सम्भव नहीं। सूतजी में उत्तम गुरु के सारे लक्षण थे। सूतसंहिता में उनका बड़ा उदार चित्रण मिलता है।

व्यासजी ने वेदों के चार विभाग कर के जैमिनी आदि अपने प्रधान शिष्यों पर उस परम्परा को बनाये रखने का उत्तरदायित्व डाला था। स्वयं के रचित पुराणों की विद्या उन्होंने अपने प्रिय शिष्य सूतपुत्र रोमहर्ष को दी थी। विद्या सन्तति को सुरक्षित एवं प्रवृद्ध करने की गुरुआज्ञा और शिष्य के कल्याणार्थ अपने अन्दर गुरुता को प्रदान करनेवाली शिवकृपा—इन दोनों को ही यहाँ उपदेश के लिये कारण समझ कर सूतजी 'अतः' का प्रयोग कर रहे हैं।

शास्त्र अध्ययन के आरंभ में शास्त्र से सम्बन्धित निम्नलिखित चार बातों का स्पष्टीकरण होजाना चाहिए, जिन्हें 'अनुबन्ध चतुष्टय' कहते हैं :—

१. अधिकारी — इस शास्त्र का उपदेश जिसके लिये हो रहा है।

२. विषय — शास्त्र जिसका प्रतिपादन करता है।

३. प्रयोजन — इस विषय के अध्ययन से जो लाभ होगा।

४. विषय सम्बन्ध — प्रतिपाद्य विषय के साथ शास्त्र का जो सम्बन्ध है।

इनमें से प्रथम का उल्लेख 'अथ' शब्द से हो चुका है। 'शुद्धं' यह विशेषण आत्मज्ञान को विषयरूप से प्रतिपादित करता है। 'कैवल्यमुक्तिदं' तथा 'भवदुःखस्य भेषजं' इन दो विशेषणों में प्रयोजन प्रकट हो गया है। 'संप्रवक्ष्यामि' से प्रतिपाद्य–प्रतिपादक सम्बन्ध सिद्ध होता है।

वक्ष्यामि = कहूँगा।

प्रवक्ष्यामि = प्रकर्ष (बहुत अच्छे ढंग से) कहूँगा, जिस से सारे सन्देहों का भी निवारण हो जाय।

संप्रवक्ष्यामि = सम्पूर्ण एवं सम्यक् प्रकार से कहूँगा, जिस से विषय का साक्षात्कार ही होजाय।

श्लोक २

"ज्ञानादेव तु कैवल्यं", "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः", "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेयनाय" आदि शत-शत श्रुति इस बात की घोषणा करती हैं कि मुक्ति रूपी प्रयोजन के लिये आत्मज्ञान ही एक मात्र साधन है। ऐसा कहने पर उसकी अपूर्वता सिद्ध होने से शिष्य की प्रवृत्ति तीव्र होजाती है।

श्लोक ३–४

विषय के प्रति शिष्य में रुचि उत्पन्न करने के लिये प्राचीन आख्यायिका का प्रसंग दिया जा रहा है। "प्राचीन महापुरुषों ने भी इसी ज्ञान का सेवन किया था" ऐसा जानकर उस ज्ञान के प्रति आदर और प्रामाणिक बुद्धि होना स्वाभाविक है। सं (दोषरहित) + प्रदाय (प्राप्ति की परम्परा) के बिना ज्ञान अग्राह्य है। अतः सूतजी शिवगीता का सम्प्रदाय कथन कर रहे हैं।

श्लोक १६–१९

कर्म और कृपा का विरोध प्रतीति मात्र है। वास्तव में इन दोनों का संयोग ही साधना का आधार है। "दैवं पुरुषकारश्च सिध्यतोन्योन्यसंश्रयात्" से पुरुषार्थ और इष्टदेव कृपा को अन्योन्याश्रित

बतलाया है । कृपा नित्यसिद्ध है और परमेश्वर का स्वभाव है। पुरुषार्थ मनुष्य के हाथ में है और इसी की न्यूनता से साधना में न्यूनता आती है । अतः वैदिक-शास्त्र में पुरुषार्थ पर ही अधिक जोर दिया गया । इस में संदेह नहीं कि शिवकृपा ही एकमात्र शिवज्ञान का कारण है, परन्तु कृपा के उद्‌घाटन के लिये उसकी पात्रता का आपादन प्रत्येक जोव का कर्त्तव्य है । अन्यथा शास्त्रों का उपदेश निरर्थक हो जायगा ।

श्लोक २०–२४

काम, क्रोध, भय, स्नेह, सौहृद, ऐक्य आदि सभी भावनाओं से भगवत् चिंतन हो सकता है । लोहे से पारसमणि को प्रेम से स्पर्श करें या हथौड़ी से उसके ऊपर द्वेषपूर्वक आघात करें, लोहे में परिणाम एकसा होता है । पारसमणिवत् परमेश्वर की स्वरूपभूत शक्ति यह है कि अनुसन्धाता को शुद्ध कर दें । परन्तु क्रोध, भय आदि निकृष्ट भावनाएँ साधकों के लिये उपादेय नहीं हैं । आसुरी प्रकृति में ही इन की सम्भावना होने के कारण इनके प्रयोग से भगवद् भजन के द्वारा अन्ततः शुद्धि आने पर भी साधनाकाल में आनन्द का आविर्भाव नहीं हो पाता और रास्ते में ही गिरने का भय रहता है । समाज की दृष्टि से भी ऐसे प्रयोगों से अनिष्ट ही होता है । अतः मात्र भक्ति भाव से शिवभावना अभ्यसनीय है।

श्लोक २९

ईश्वरोपासना और देवोपासना का भेद भगवद्गीता में भी प्रतिपादित है (६. २३/२५)। ईश्वर-बुद्धि रहित उपासक की संकुचित दृष्टि के अनुसार उपासना फल में भी संकोच हो जाता है । ईश्वरोपासनाजन्य मोक्षफल के सामने यह ऐसा क्षुद्र और निस्तत्त्व प्रतीत होता है जैसे गंगातीर्थ की अपेक्षा मृगमरीचिका-जल । इसो बात को भाष्यकार आचार्य शंकर अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हुए शिवानन्द लहरी में लिखते हैं :

यथा बुद्धिः शुक्तौ रजतमिति काचाश्मनि मणिर्
जले पैष्टे क्षीरं भवति मृगतृष्णासु सलिलम् ।
तथा देवभ्रान्त्या भजति भवदन्यं जडजनो
महादेवेशं त्वां मनसि च न मत्वा पशुपते ॥

अध्याय २

श्लोक ४

अगस्त्य मुनि की पत्नी लोपामुद्रा श्रेष्ठतम देवी-भक्तों में से एक हैं । इनके नाम से ही एक विद्या (तान्त्रिक मन्त्रोपासना का विशेषप्रकार) प्रसिद्ध है । अगस्त्य मुनि का नाम न लेकर लोपामुद्रापति कह कर उनका परिचय देते हुए उन पुनीत भारतीय मातृ–विग्रह को सूतजी आदर व प्रधानता दे रहे हैं । श्री ललितात्रिशती की भूमिका में हयग्रीवाचार्य को अपने शिष्य अगस्त्य के प्रति गुह्य मंन्त्रोपदेश की आज्ञा देते हुए इस विशेष अनुकम्पा के कारण में भगवती ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है — "इसकी पत्नी लोपामुद्रा मेरी अग्रगण्य व अनन्य सेविका है ।"

श्लोक २०

यह कठोपनिषद् (१.२.१९) श्रुति है । प्रत्यक्ष प्रमाण की इन्द्रिय-गोचर विषय में ही गति सम्भव है । आत्मा इन्द्रियों का अविषय होने से एक मात्र श्रुतिप्रमाण से निर्धारित होती है । यद्यपि "अहम्" रूप से आत्मा का अनुभव सब को सहजतया प्राप्त है, तथापि रज्जु में सर्पदर्शन की तरह यह भ्रान्ति है, क्योंकि सभी लोग शरीर आदि जड़ को ही "अहम्" रूप से समझते हैं । इस प्रकार समझना युक्ति, श्रुति आदि प्रमाणों से विरुद्ध पड़ता है । जैसे इस जीवन में जाग्रत आदि सभी अवस्थाओं में चैतन्य का भान एक क्षण के लिये भी लुप्त नहीं होता वैसे

ही अन्यान्य जीवनों में भी मानना पड़ेगा। अतः चैतन्य आत्मा की मृत्यु या अभाव असंभावित है।

दूसरी बात, चैतन्य के अभाव को जानने वाला कोई सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जाननेवाला हमेशा चैतन्य ही हुआ करता है। इसलिये चैतन्य का अभाव सर्वथा असिद्ध है। श्रुतियों में स्पष्ट ही अनेकों जगह घोषित किया है — "अविनाशी वाऽरेऽयमामात्मा अनुच्छित्तिधर्मा" आदि। विद्वत्-अनुभव भी यही है कि "मैं अजन्मा, अविनाशी, अनन्त हूँ।" इसलिये मनुष्य जन्म लेता और मरता हुआ प्रतीत होने पर भी प्रबल प्रमाणों से बाधित होने के कारण आत्मा को अजन्मा मानना पड़ता है।

आत्मा सर्वत्र एक ही है। एक शरीर के अन्दर जैसे वह अमर है वैसे ही दूसरे में भी। अतः एक आत्मा दूसरे को मृत्यु में पहुँचा दे, यह भी असम्भव है। निर्विकार और निरवयव होने से आत्मा में अन्य के प्रति द्वेषभाव एवं तज्जनित हननक्रिया, दोनों असम्भव हैं — "नायं हन्ति न हन्यते" कहने का आधार यही है।

श्लोक २५

शाम्भवी माया — शम् (= सुखं) भवति इति शंभुः, अर्थात् सुखस्वरूप का नाम शम्भु है। तस्य माया शाम्भवी माया। उस शम्भु की मायाशक्ति शाम्भवी है। "शम्भु की" इस प्रकार षष्ठी प्रयोग का तात्पर्य विषयत्व और आश्रयत्व दोनों को लेकर है। शम्भु ही इस माया का आश्रय भी है और विषय भी। इसको इस प्रकार समझना चाहिये :— ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप है। सत् एवं चित् को आधार बनाकर माया जगतप्रतीति कराती हुई ब्रह्म के आनन्दरूप को ढक देती है। अतः आनन्दरूप ब्रह्म माया का विषय है। आनन्द के छिप जाने से उसकी खोज में सारी सांसारिक प्रवृत्ति चलती रहती है। शाम्भवीमाया के नाम से इस रहस्य को प्रकट किया है।

अनन्तत्व, व्यापकत्व या भूमात्व को सुख या आनन्द का ही पर्याय शब्द माना है। "यो वै भूमा तत्सुखम्"। व्यापकत्व को लेकर ब्रह्म को विष्णु कहते हैं। उस व्यापकत्व को आच्छादित कर परिच्छिन्नत्व की प्रतीति कराने से माया को यत्र-तत्र "वैष्णवी माया" भी कहा है।

श्लोक ३०

शरीर के चार भेद अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज (या उद्भिद) और जरायुज नामों से प्रसिद्ध हैं। शिवगीता (अध्याय ८ श्लोक ३) में भी इन का उल्लेख है। परन्तु प्रकृत श्लोक में "उद्भिज्ज" शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध वर्गीकरण के अन्तर्गत "उद्भिज्ज" से सर्वथा विलक्षण अर्थ में ही हुआ है। प्रसिद्ध "उद्भिज्ज" का अर्थ पेड़, पौधे आदि हैं जिनके बीज जमीन को फोड़के अंकुरित होते हैं। प्रकृत श्लोक में स्थावर नाम से इन का संग्रह हो चुका है। अतः जंगम शरीरों में पठित "उद्भिज्ज" शब्द का "जरायुज" अर्थ करना पड़ रहा है। जरायु नामक गर्भाशयावरण को फोड़ के ही पशु, मनुष्य आदि शरीर जन्म लेते हैं। इस को लेकर इनको यहाँ शिवगीताकार "उद्भिज्ज" कह रहे हैं। इसे यहाँ आर्षप्रयोग मान लेना चाहिये।

अध्याय ३

श्लोक ९–१२

अगस्त्य मुनि जानते थे कि राम के द्वारा ही रावण का वध होगा। परन्तु आदर्श शिष्य के उत्तम गुणों के प्रदर्शनार्थ राम की परीक्षा करते हुए उनको रावणवध से निवारित कर स्वरूपानुसन्धान का उपदेश दिया। राम को विदित था कि मेरा अधिकार कर्म में है। अवतार-लीला के लिये ही क्यों न हों, "मैं क्षत्रिय हूँ, सीतापति हूँ" आदि अभिमान को स्वीकार किये हुए

थे। ऐसे पुरुष के लिये हठात् कर्म छोड़कर ब्रह्मविचार में प्रवृत्त होना अशास्त्रीय है। भ्रम या आलस्य वश ऐसे आपाततः युक्ति पूर्ण उपदेशों को ग्रहण करने वाले दोष के भागी हैं। उनके जीवन में मधुर परिपाक नहीं आपाता।

अतः श्रीराम ने अपनी विचारशक्ति, सरलता और सच्चाई को प्रकट करते हुए तत्त्वबोध को अस्वीकृत किया। परन्तु साथ में यह भी कह देते हैं कि आप ही मेरे गुरु हैं, आपको मैं नहीं छोड़ूँगा, न आप ही मुझे इस प्रकार त्याग सकते हैं। यह श्रद्धा व निष्ठा का लक्षण है। ऐसी निष्ठा से ही इह-पर साधने वाला सम्प्रदाय-जनित मार्ग प्राप्त होता है।

"नान्योस्ति गुरुः" से ऋषि वशिष्ठ का निराकरण नहीं समझा जाय। इस प्रसंग में अगस्त्य ही गुरु रूप से राम के सामने थे।

श्लोक २०

परम् = श्रेष्ठ, (उत्पादक होने से) ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ।
परात्परम् = स्वयंभू ब्रह्मा के भी नियामक, मायाविशिष्टब्रह्म।
परात्परतरम् = मायाविशिष्ट ब्रह्म के परे, निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म — जहाँ माया व मायी का भेद लुप्त है।

श्लोक २२-२३

"पंचभूतानि संयम्य" से लेकर "अमृतो भूत्वा" तक का वर्णन उस प्रक्रिया का है जिसे आगमों में भूतशुद्धि और योग-शास्त्रों में धारणा कहते हैं। "पृथिव्याप्यतेजोनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योग गुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्" इस श्वेताश्वतर श्रुति में इस प्रक्रिया का स्वरूप व फल का निर्देश मिलता है। इसका संक्षिप्त वर्णन सूतसंहिता (ज्ञानयोग खंड – अध्याय १८) इस प्रकार करती है —

जान्वन्तः पृथिवीभागो ह्यपां पाय्वन्त उच्यते।
हृदयान्तस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः॥

आकाशान्तस्तथा प्राज्ञ मूर्धान्तः परिकीर्तितः ।
ब्रह्माणं पृथ्वीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ।।
अग्न्यंशे च महेशान–मीश्वरं चानिलांशके ।
आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम् ।।

अर्थात्, अपने शरीर के पाद से जानुपर्यन्त पृथ्वीतत्त्व, जानु से गुदा पर्यन्त जलतत्त्व, गुदा से हृदय तक अग्नितत्त्व, हृदय एवं भ्रूमध्य के बीच वायुतत्त्व और भ्रूमध्य से मूर्धावधि आकाशतत्त्व स्थित है, ऐसी भावना करने का विधान है । इन पाँच तत्त्वों के साथ इन के अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर और सदाशिव नामक प्रसिद्ध पंचब्रह्म रूपों का ध्यान करना चाहिये । मंत्रयोगानुसार लं, वं, रं, यं, हं, ये पाँच बीजाक्षरमंत्रों का सम्बन्ध क्रमशः इन पाँच महाभूतों से है एवं भूतों के क्रमशः चौकोर, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, षट्कोण एवं वृत्त (गोल) आकार के अपने अपने मंडल भी हैं । तत्तत् मंडल में तत्तत् बीज का ध्यान करना चाहिये ।

पृथ्वीतत्त्व सब से स्थूल होने से निम्नतम भाग में स्थित है । उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँचों तन्मात्राएँ हैं । यह तत्त्व अपने कारणरूप जलतत्त्व में लीन होता है । इसी प्रकार पूर्वपूर्व तत्त्व का उतरोत्तर में भावना के द्वारा लय करते हुए, साधक अन्त में एक तन्मात्रा वाले आकाशतत्त्व को तन्मयता से प्राप्त करता है । धारणा के इस स्तर में स्थूलत्व, परिछिन्नत्व आदि देह धर्मों से उसका मन निवृत्त हो जाता है । तदनन्तर वह मन पाँचो महाभूतों की जननी अव्याकृत मायातत्त्व में प्रवेश करने योग्य हो जाता है । यह सुषुप्ति जैसी स्थिति है। इस स्थिति का भी साक्षीचैतन्य उस अव्याकृत या अमात्र के अन्दर ही भासमान है । उसके ध्यान से परमानन्द अमृत की वर्षा होती है । इस अनुभूति रस के सिंचन से शरीरस्थ सारी नाड़ियाँ अमृतमय व दिव्य हो जाती हैं । दिव्यता–सम्पन्न शरीर को लेकर फिर पाशुपतव्रत की उत्तर क्रियाएँ होती हैं । पर कोई

भी साधक किसी भी ध्यान-साधना में शुद्धि और स्थिरता प्राप्ति के लिये इस धारणा क्रिया को अपना सकते हैं ।

'द्वादशान्त' एक गूढ़ पारिभाषिक शब्द है । इसके विभिन्न अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं :—

(१) पंचभूत, पंचतन्मात्राएँ और इनके कारणभूत अव्यक्त या माया मिलकर ग्यारह तत्त्व होते हैं । इन सब का अन्त (लय) जिस द्वादश (बारहवें) तत्त्व में होता है वह द्वादशान्त है, अर्थात् चिन्मात्र है ।

(२) ओंकार के अन्दर अ, उ, म स्पष्ट प्रतीत तीन मात्राएँ हैं । तदनन्तर अर्धमात्रा है । अर्धमात्रा में ही बिन्दु, अर्धचन्द्र, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना नामक आठ तत्त्व विद्यमान हैं, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर हैं । उन्मना का भी लय कालातीत चिन्मात्र में होता है, जो अखण्ड होने के कारण सभी मात्राओं में अनुस्यूत है । तथापि इन ग्यारह तत्त्वों से विलक्षण बतलाने के लिये इसे द्वादश मात्रा कहा जाता है । यही द्वादशान्त है ।

(३) कुण्डलिनी-योग के अनुसार सहस्रार-चक्र का नाम द्वादशान्त है । कोई कोई हृदय-चक्र को द्वादशान्त कहते हैं । कुण्डलिनी के जागरण का मार्ग सुषुम्ना नाड़ी अग्नि, सूर्य और सोम इन तीन खण्डों में विभक्त है । सूर्य खण्ड का केन्द्र होने से हृदय-चक्र द्वादशान्त है (द्वादश=सूर्य, उसके अन्दरका या उसका स्वरूपभूत हृदय–चक्र=द्वादशान्त) ।

(४) सुषुम्ना नाड़ी को भी द्वादशान्त कह सकते हैं, क्योंकि कठोपनिषद् आदि के अनुसार मृत्युकाल में योगाभ्यास द्वारा इसी नाड़ी के मार्ग से जाने पर जीव मुक्त होता है । दशा = संसार दशा, अन्त = (उसका) नाश, अर्थात् मुक्ति, द्वा = (इसके प्रति) द्वार; अतः सुषुम्ना नाड़ी ही द्वादशान्त है ।

यहाँ भूतशुद्धि का प्रकरण होने से द्वादशान्त स्थिति में अमृत होने की बात कही गयी है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ब्रह्मरंध्र पर पहुँचती है तो उसके साथ अविनाभाव संभ्बन्ध वाली चेतना के स्तर के उन्नत होने से आनन्दमय अमृत का अनुभव होता है। इस जागृति के लिये सुषुम्ना मार्ग में स्थित नाड़ीचक्रों का भेदन करना पड़ता है। इन चक्रों के साथ विश्वतत्त्वों का सम्बन्ध होने से चक्र भेदन के द्वारा पंचभूतों का अतिक्रमण अपनेआप हो जाता है।

(५) कुछ ग्रन्थों के अनुसार द्वादशान्त व्यवस्थान एक प्रकार की प्राणोपासना है। निश्वसित प्राणवायु का लय नासिकाग्र से बारह अंगुल की दूरी पर होना चाहिये। सामने रुई जैसी सूक्ष्म वस्तु को लटका कर रखने से एवं नासिका से उसकी दूरी को बदलने से पता चलता है कि कितनी दूरी पर प्राण-लय के कारण वह स्पंदनरहित होती है। यह दूरी द्वादश अंगुल रहे, ऐसा प्राण का अभ्यास करने से, प्राण के साथ घनिष्ठ संबंध वाला मन अति सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है। इसे द्वादशान्त स्थिति कहते हैं। प्रस्तुत शिवगीता श्लोक के प्रसंग में इस अर्थ का संग्रह इतना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

श्लोक २५

'विरजा' नाम के मंत्र महानारायणोपनिषद् (६५–६६)में द्रष्टव्य हैं।

श्लोक २६–२७

यहाँ 'विद्वान्' शब्द वैदिक उपासक के लिये आया है। वैदिक उपासना में भस्मधारण एक अनिवार्य अंग है।

श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने।
धृतत्रिपुण्ड्रः पूतात्मा मृत्युं जयति मानवः॥ (कात्यायन)

सत्यं शौचं जपो होमस्तीर्थदेवादिपूजनम् ।
तस्य व्यर्थमिदं सर्वं यस्त्रिपुण्ड्रं न धारयेत् ।। (भविष्य पुराण)

भस्म धारण की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है :– शोधित किये हुए भस्म को दाएँ हाथ की तर्जनी-मध्यमा-अनामिका-अंगुष्ठ से उठाकर इस मन्त्र को पढ़ते हुए शिर से नमस्कार करे :

ॐ अग्निरिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमिति भस्म देवा भस्म ऋषयो भस्म । सर्वं ह वा एतदिदं भस्म पूतं पावनं नमामि सद्यः समस्ताघनाशकम् ।।

इस मन्त्रपूत भस्म को वाम हस्त में रख कर जल से मिलाते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करे :

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।।

फिर इसी मन्त्र से या गायत्री मन्त्र से ललाट, कंठ, हृदय, नाभि एवं भुजाओं में दाँये हाथ की मध्य तीन उंगलियों के द्वारा भस्म लगाए । हाथ को निम्नलिखित मन्त्र से धोकर उस जल को मुख में धारण करना चाहिये, नीचे गिराने का निषेध है :

ॐ आप पुनन्तु पृथिवीं पृथिवीपूता पुनातु माम् ।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् ।।

अथवा भाल, दक्षिणांस (दाँये कंधे), वामांस (बाँये कंधे), जठर (पेट) और वक्ष (छाती) — इन पाँच अंगों में क्रमशः ॐ तत्पुरुषाय नमः, ॐ अघोराय नमः, ॐ सद्योजाताय नमः ॐ वामदेवाय नमः, ॐ ईशानाय नमः — इन पांच मन्त्रों सहित भस्म धारण करने का भी विधान है । अधिक विस्तृत विधान भस्मजाबालोपनिषद् आदि ग्रन्थों में द्रष्टव्य है ।

श्लोक ३०

शारीरिक, वाचिक और मानसिक भेद से तप तीन प्रकार का है । हवन, पूजन आदि शारीरिक तप हैं । जप और स्वाध्याय वाचिक हैं । धारणा ध्यान आदि मानसिक हैं । उत्तम अनुष्ठान में तप के तीनों रूपों का आश्रयण किया जाता है । इस दृष्टि से अगस्त्यजी राम की साधना में शिवसहस्रनाम का संवेश कर रहे हैं ।

'वेदसार' शिवसहस्रनाम भी पद्मपुराण का ही कहा जाता है । इसका मूलमात्र हमारे गुरुस्थान श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, वाराणसी से प्रकाशित "स्तुति कदम्ब" में उपलब्ध है ।

अध्याय ४

श्लोक २२–२४

शिवदर्शन के प्रारम्भ में राम के भय, भ्रम, कम्पन आदि के वर्णन से सगुणब्रह्म स्वरूपसाक्षात्कार के अव्यवहित पूर्वक्षणों में साधक के शरीर संघात में प्रकट होने वाले चिन्हों को समझना चाहिये । साधना के द्वारा जब शरीर में अध्यात्म शक्ति जागृत होती है तब तूफ़ान से उद्वेलित समुद्र की तरह अन्नमय से लेकर विज्ञानमय तक सभी कोशों में क्षोभ उत्पन्न होता है । दुर्गासप्तशती में देवताओं के शरीर से महान तेजःपुंज के रूप में महाशक्ति के प्रकट होते समय इसी प्रतीकत्व को ग्रहण करते हुए कहा गया है : "चचाल वसुधा चेलुः पर्वताश्च चकम्पिरे"। ये शब्द प्रायः ज्यों के त्यों श्लोक २३ के पूर्वार्ध में शिवगीता प्रयुक्त कर रही है । यहाँ वसुधा का चलन शरीरमंथन को और पर्वतकंपन सुषुम्ना के अंदर कुंडलिनी की तीव्र गति को द्योतित करते हैं । प्रायः सगुणब्रह्म-अनुभव के पूर्व विश्वव्यापी अनाहत-नाद का एवं सर्वदिशाव्यापी उत्कृष्ट ज्योति का भी अनुभव होता

है। यह ज्योति प्रथम क्षण में असह्य, कष्टदायक व तापप्रद होने पर भी अगले क्षण में अमृत तुल्य सिद्ध होती है। ईसाई धर्म में ईश्वरानुभूतियों के विविध रूपों से अनुगृहीत संत तेरेसा को प्रथम दर्शन में ऐसा विदित हुआ था कि एक देवदूत भाले के ज्वाला-युक्त तीक्ष्ण अग्रभाग से बारम्बार उसके अन्तस्तल पर आघात कर रहा है। तेरेसा प्रत्येक बार मूर्छित होती थी पर हर बार उत्तरक्षण में उसको अत्यन्त मधुरता व दिव्यता का अनुभव होता था। इसी प्रकार अन्य मतों के सन्तों में भी अनुभवलक्षण-साम्यता पायी जाती है। इन्हीं लक्षणों का यहाँ चित्रण है।

अध्यात्मविकास के शाश्वत नियमों के परिज्ञान से साधक अपने अनुभवों की प्रामाणिकता और मूल्य का निर्णय कर सकता है। अन्यथा किसी प्रेत को या स्वमनःकल्पित विलक्षण दृश्य को देखकर भी लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि हमें ईश्वरदर्शन हो गया है। परन्तु आगेपीछे उनके जीवन को देखने पर विदित होता है कि न कोई योगानुभूति के लक्षण प्रकट हुए, न धर्मनिष्ठा में उद्रेक ही।

ईश्वर को देखने के पूर्व राम ने सर्व प्रथम ईश्वर-वाहन वृषभ को देखा। धर्म को ही वृषभ कहते हैं। शिवपुराण में इस प्रतीकत्व का पूर्ण विवरण है। प्रत्येक शिव-मंदिर में नन्दी का स्पर्श और नमन करके ही शिवसन्निधि में प्रवेश किया जाता है। तात्पर्य यह है कि हमारा ईश्वरसम्पर्क धर्म-जनित होना चाहिये। भगवद्गीता में जगह जगह श्रीकृष्ण ने "धर्म्यम्" विशेषण लगाकर अपने उपदेश को धर्म पर प्रतिष्ठित बतलाने का कष्ट किया। इससे उन सब उपासना मार्गों का खंडन हो जाता है जो वेद-शास्त्र और साधुजनों से बहिष्कृत एवं सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि धर्मों के विरोधी हैं।

राम ने जिनके दर्शन किये थे वे कोई देवविशेष नहीं हैं— इसको बतलाने के लिये शिव-शिवा के वर्णन में "युवानं पुरुषश्रेष्ठं

सच्चिदानन्द विग्रहं" एवं "सच्चिदानन्दरूपाढ्यां जगन्मातरसम्बिकां" कहा गया है ।

श्लोक ३७

'अग्रगं गरुडारूढम्' से भगवान शंकर की सभा में विष्णु की प्रधानता दिखाई गई है । यहाँ विष्णु का अग्रगण्य होना केवल प्रधान लोकपाल होने से ही नहीं, अपितु शिवभक्तों में श्रेष्ठतम होने से भी है । हरि और हर एक दूसरे को अपना हृदय ही समझते हैं । पर हरि ने अपने इष्ट की उपासना में सर्वभाव-परिपूर्ण निष्ठा का जैसा प्रदर्शन किया वैसा कहीं भी नहीं देखा गया है । इसलिये आचार्य शंकरने कहा —

बाणत्वं वृषभत्वमर्धवपुषा भार्यात्वमार्यापते
घोणित्वं सखिता मृदङ्गवहता चेत्यादि रूपं दधौ ।
त्वत्पादे नयनार्पणं च कृतवां–स्त्वद्देहभागो हरिः
पूज्यात्पूज्यतरः स एव हि न चेत् को वा तदन्योधिकः ।।

— शिवानन्दलहरी, ८२.

श्लोक ४८

नृत्त = ताल, लय और रस के अनुसार अंगों का विक्षेप करना ।

नृत्य = पदार्थों को अभिनयपूर्वक प्रकट करना ।

नाट्य–नृत्य = एक पूरे प्रसंग के वाक्यार्थों का अभिनयपूर्वक प्रदर्शन ।

श्लोक ५०

अनुचरों से परिवृत महादेव के दिव्य दर्शन से ही राम कृतार्थ हो गये थे । इससे सूचित है कि उपासना चाहे सकाम रूप से ही प्रारम्भित क्यों न हो पर यदि एकाग्र निष्ठा व भक्ति की परिपूर्णता उस में है तो उपास्य के आकर्षण के सामने इतर फल की कमनीयता लुप्त हो जाती है । अतः वर देने के लिये इष्टदेव

के प्रकट होने पर वर माँगने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। प्राचीन काल में राजकुमार ध्रुव एवं ऋषिकुमार उपमन्यु के विषय में ऐसा ही हुआ था। अर्वाचीन काल में रामकृष्ण परमहंस के शिष्य नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) ने भी श्रीदक्षिणाकाली के प्रसंग में ऐसा हो अनुभव किया था। दशरथकुमार की कृतार्थता इसी कोटि की है। इसी के कारण आगे के अध्याय में भी वे शिव से किसी प्रकार की याचना नहीं कर रहे हैं। शिव स्वयं अपनी ओर से उन को पाशुपतास्त्र देते हैं।

अध्याय ५

श्लोक २५

समुद्र लंघन के औचित्य का प्रश्न उठाकर राम अपनी धर्मपरायणता का परिचय दे रहे हैं। साधक साधना के किसी भी स्तर में किसो भी निमित्त से अधर्म का आश्रयण नहीं करेगा। गुरु से या साक्षात् शिव से ही यदि ऐसी प्रेरणा मिलती हो, जो कि अधर्ममूलक प्रतीत हो रही हो, तो साधक को पहले संशय का समाधान किये बिना कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि सेवितव्यतानि नो इतराणि" (तैत्तरीय १. ११. २) आदि श्रुति, "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" (भगवद्गीता १६.२४) आदि स्मृति एवं परशुराम-भीष्म संग्राम आदि ऐतिहासिक वृत्तान्त इसमें प्रमाण हैं।

प्रश्न से भी बढ़कर इसका उत्तर महत्त्वपूर्ण है। यहाँ आधुनिक प्रगतिशील धर्म सुधारकों को ईश्वरवचन से मौलिक मार्गप्रदर्शन है। विधि-निषेधात्मक कर्मकाण्ड को लेकर कभी भी शास्त्रों में संकीर्णता लाने का प्रयत्न नहीं किया गया। "गहना कर्मणो गतिः" होते हुए भी प्रत्येक धर्मसंकट में हमें कर्त्तव्य निर्णय का आधार स्पष्टतया प्राप्त है। इसमें एक सुन्दर उदाहरण रूप से समुद्रोल्लंघन का यहाँ समर्थन हो रहा है। समुद्र के पार जाकर

म्लेच्छों से सम्पर्क करने से अनेक प्रकार के रोगादि शारीरक दोष, अनाचार, असभ्यता, आदर्शों का सांकर्य आदि की प्रसक्ति संभव है । इससे बचने के लिये एवं कुछ प्रबल व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएँ या धन के लोभ से पृथ्वी के अन्य भूभागों में आक्रमण की प्रवृत्ति को रोकने के लिये भगवान वरुण का उल्लंघन निषिद्ध था । यह रुकावट भी विशेष करके समाज के संस्कारों की रक्षा करने वाले ब्राह्मणों पर ही अधिक थी । प्राचीन काल से ही कर्त्तव्यरूपेण व्यापार, संस्कृति के प्रचार आदि निमित्त से समुद्र पार करके भी भारतीय जाते थे । यहाँ राम के सामने धर्मरक्षा का प्रसंग है । भगवान के उत्तर से स्पष्ट है कि यदि स्त्री, धन, यश आदि की लिप्सा कारण बनती तो राम का समुद्र लाँघना अन्याय होता । पर अधर्म में प्रवृत्त बलवान राक्षसों का वध ही तात्पर्य होने से यहाँ समुद्रोल्लंघन निर्दुष्ट है । राम का दृष्टिकोण यही था– ऐसा निश्चय इस प्रमाण पर हो जाता है कि रावण के वश से सीताजी को छुड़ाने के बाद वे उनको स्वतन्त्र कर देते हैं एवं लंका के राज्य पर विभीषण को अभिसिक्त कर देते हैं । आजकल विधवा का विवाह आदि कुछ सामाजिक परिपाटी परिवर्तनों के लिये प्रयत्न करते समय यह अवश्य देखना चाहिये कि यह परिवर्तन भोग-दृष्टि से या धर्मसुरक्षा के लिये किया जा रहा है ।

श्लोक ३७–३९

हम अनुमान कर सकते हैं कि महापाशुपतास्त्र की प्रलयंकरी शक्ति एवं धर्मयुद्ध के कठिन नियमों को सुनकर राम चिन्तित हो गम्भीर विचार करने लगे । उनको इस मुद्रा को देखकर ही सदा शिव यहाँ उनको आश्वासन देने लगे कि वास्तव में इस महान कार्य के पीछे ईश्वर संकल्प है । उसकी पूर्ति के लिये राम केवल एक निमित्त हैं, इसलिये चिन्ता की आवश्यकता नहीं । इस बात की पुष्टि में चराचर जगत की सृष्टि-स्थिति-विनाश के मूल में जगदाधार ईश्वर-सत्ता का प्रतिपादन हो रहा है ।

अध्याय ६

यद्यपि इस अध्याय का नाम विभूति-योग है तथापि विभूति से अधिक यहाँ योग पर ही जोर दिया गया है। भगवद्गीता के विभूतियोग में "एतान्विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः" से विभूति की ही प्रधानता प्रतीत होती है। अतः वहाँ के विभूति योग से शिवगीता का यह प्रसंग कुछ विलक्षण है।

ईश्वरोपासना के अन्तर्गत निरन्तर ईश्वरचिंतन की सामग्री रूप से सृष्टि के कुछ विशेष पदार्थों का वर्णन भगवद्गीता में है। "यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमत् ऊर्जितमेव वा। तद् तदेवावगच्छत्वं मत्तेजोंशसम्भवम्।" से स्पष्ट है कि यहाँ ईश्वर के अंश या कार्यरूप से जगत का चिन्तन है या उत्कृष्ट जगत के उत्कृष्टतम कारणरूप से ईश्वर की भावना है। शिवगीता के इस अध्याय में माया द्वारा कल्पित जगत-कारणत्व ब्रह्म में भासमान है — इसे बतलाने के लिये ही विभूति योग आता है।

उपनिषद् सारभूत जगदेकात्मैक्य ज्ञान प्राप्ति की भूमिकारूप से आने के कारण प्रस्तुत अध्याय का विभूति-वर्णन भी वेदानुसारी भाषा और प्रतीकों को लेकर ही किया गया है। देवता-ईश्वर संवाद वृत्तान्त से प्रारम्भ कर श्लोक ४४ तक जो वर्णन आया है उस में रुद्रअथर्वशिर उपनिषद् के मुख्य विषय का भावतः, कहीं कहीं अक्षरशः भी, अनुकरण है। वैदिक साहित्य से अपरिचितों के लिये यह वर्णन क्लिष्ट सा प्रतीत हो सकता है, परन्तु रुद्री आदि के अभ्यासी यह स्वीकारेंगे कि वेदवेद्य-पुरुष को सर्वात्म-भाव से समझने में यह शैली रमणीय और अमोघ है।

श्लोक २४

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, उमा, स्कन्द और विनायक का विशेष उल्लेख इसलिये है कि ये छः प्रसिद्ध उपासना भेदों के छः उपास्य हैं। कालान्तर में ब्रह्माकी उपासना लुप्त हो गयी। शेष पाँच

के साथ अनादि काल से चली आयी सूर्य-उपासना को पुनः प्रतिष्ठित एवं संशोधित करने से भगवान भाष्यकार को षण्मतस्थापनाचार्य कहते हैं।

इन्द्र से लेकर ईशान तक के आठ नाम क्रमशः पूर्वादि–ईशानकोणान्त आठ दिशाओं के अधिपति हैं। कहीं कहीं उत्तर दिशा-अभिमानी कुबेर न होकर दुर्गा मानी जाती है। इन आठ दिशाओं के अतिरिक्त, ऊर्ध्व और अधः इन दिशाओं के अभिमानी ब्रह्मा और अनन्त भी उपलक्षणा से यहाँ संग्राह्य हैं

श्लोक ३८

यहाँ पंचकृत्य का संकेत है। पंचकृत्यकारित्व ही परमेश्वर का लक्षण है। जगत की सृष्टि, स्थिति व संहार — प्रसिद्ध तीन ईश्वरीय क्रियाएँ हैं। स्थितिकाल में ही निग्रह और अनुग्रह (अथवा तिरोभाव और आविर्भाव) की दो विशेष लीलाएँ भी ईश्वर करते हैं। अपने स्वरूप को जब ईश्वर तिरोहित कर लेते हैं तब माया के द्वारा निगृहित होकर जीव संसरण करने लगता है। जब ईश्वर अपनी अनुग्राहिका इच्छा से अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं तब जीव माया एवं माया-कार्य (संसार) से मुक्त हो जाता है। "यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" आदि श्रुति इसमें प्रमाण हैं।

श्लोक ४६–४८

जीव-जगत-ईश्वर के भेद को हटाकर, एक अखंड सच्चिदानन्द मात्र का ("सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों के अनुसार) ज्ञान कराया गया है। इन महावाक्यों के अखंडार्थ को जहदजहल्लक्षणा के द्वारा प्रतिपादित करना वेदान्त का मुख्य विषय है। वेदान्तसार आदि ग्रन्थों से यह प्रक्रिया अवगन्तव्य है। उसका निष्कर्ष मात्र यहाँ दिया गया है।

श्लोक ४६ में कारण-सत्तारूप से ब्रह्म को जड़जगत से अभिन्न कहकर श्लोक ४७ में अन्तर्यामी चैतन्यरूप से ब्रह्म का जीवजगत

के साथ ऐक्य बतलाया। अन्तर्यामी को जातवेदा नाम देने से ईश्वर के साथ अनन्त जीवों का सम्बन्ध अग्नि के साथ स्फुलिंगों का सा सिद्ध होता है। श्लोक ४८ में एक साथ ही जड़-जीव-ईश्वर, तीनों का ऐक्य-प्रतिपादन है। यह श्लोक श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय ४ मंत्र ११ का रूपान्तर है।

पंचविध जड़जगत = पंचमहाभूतों के भेद से।
पंचविध जीवजगत = अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज और मानस योनिभेद से।

पुरुषम् = व्यष्टि शरीररूपी पुर का स्वामी = क्षेत्रज्ञ।
ईशम् = समष्टि शरीर ब्रह्माण्ड का संचालक = ईश्वर
देवम् = इन दोनों में अखण्ड रूपेण विद्यमान, निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य।
ईड्यम् = जड़ जगत के कणकण में स्थित अधिष्ठान अखण्ड सत्ता, जो पूज्यता एवं सुन्दरता का आपादन करती है।

श्लोक ५०

यह तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली के चतुर्थ और नवम् अनुवाकान्तर्गत मंत्र का रूपान्तर है।

ब्रह्म, क्रिया (वाणी) और ज्ञान (मन) का विषय नहीं, अपितु उनका आधार है। ब्रह्म के कारण ही क्रिया व ज्ञान प्रकट होते हैं। स्वयं उससे प्रकट होने के कारण उस ब्रह्म को प्रकट करना उनके लिये असंभव है। प्रकट होना द्वैत में ही सिद्ध होने से जो प्रकट है वह अद्वैत को स्पर्श करने के प्रयत्न में कुंठित हो जाता है। अतः जीव-जगत-ईश्वर आदि द्वैत की कल्पना को छोड़ने पर ही अद्वैत सिद्ध होता है। जहाँ द्वैत नहीं वहाँ नियमतः भय का अभाव और आनन्द का आविर्भाव होते हैं। इन दोनों को अखंडार्थ प्राप्ति के चिह्न मानते हैं।

श्लोक ५४

पुरातन, पुरुष, हिरण्मय और ईश — इन चार नामों से क्रमशः ब्रह्म के नित्यत्व, पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व का प्रतिपादन है। वेदान्त की परिभाषा में वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश क्रमशः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था के समष्टि अभिमानी हैं। व्यष्टि अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहे जाते हैं। इन समष्टि-व्यष्टि अभिमानी चैतन्य की भी एकता इस श्लोक से सूचित होती है।

श्लोक ५५–५६

"मैं किसी के द्वारा भी जाना नहीं जाता हूँ" घोषित कर तुरन्त आगे के वाक्य में "मैं सभी वेदवचनों के द्वारा जाना जाता हूँ" कहना परस्पर विरुद्ध सा प्रतीत होता है। इस में तात्पर्य यह है कि ब्रह्म द्रष्टा-चैतन्य होने से दृश्य कभी नहीं बनता, अतः उसका ज्ञान विषयत्वेन इदन्तया ("यह ब्रह्म इस प्रकार है" ऐसा) नहीं हो सकता। पर अहन्तया ("मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार) स्वस्वरूपत्वेन इसका ज्ञान संभव है। इस ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये ही उपनिषदों के महावाक्य प्रवृत्त हैं। त्रिकाण्डात्मक सारे वेदों का यही तात्पर्य है, क्योंकि इसी ज्ञान से निःश्रेयस मोक्ष सम्भव है। इस दृष्टि से ब्रह्म सर्ववेदवेद्य हो जाता है।

यहाँ ध्यान रहे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि सभी प्रमाण विषयत्वेन ही ज्ञान कराते हैं। अतः उनकी गति ब्रह्मज्ञान में नहीं। केवल वेदवाक्यों में ही ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति मानी गयी जो कि अनादि अविद्या का नाश कर स्वरूप-स्मृति को जागृत करने में समर्थ है। वास्तव में वेद ईश्वर-चैतन्य का ही विवर्त होने से एवं चैतन्यतया जीव-ईश्वर का अभेद होने से साधक के लिये वेदवाक्य अपने से भिन्न प्रमाण नहीं, जिससे वेदवेद्य होने के कारण ब्रह्म को ज्ञेय कहा जाए। वह स्वतःसिद्ध, स्वयंवेद्य एवं सुतरां अप्रमेय ही है।

अध्याय ७

गत अध्याय के विभूति-योग की तरह यहाँ विराटदर्शन के द्वारा भी शिवगीता के विलक्षण प्रसंग और प्रक्रिया को भगवद्-गीता के समान प्रसंगों के साथ तुलना करके समझ सकते हैं। इस अध्याय की तुलना में कुछ बिन्दुओं का निर्देश इस प्रकार है :

भगवद्गीता में

(क) अध्याय ११ में जहाँ अर्जुन विराटदर्शन की इच्छा प्रकट करता है वहाँ स्पष्ट है कि वह पूर्व अध्यायों का सारा उपदेश समझ गया है, केवल पूर्ववर्णित सर्वव्यापक, सर्वाधार ईश्वरतत्त्व का साक्षात निरीक्षण करने की तीव्र उत्कण्ठा से प्रेरित हो प्रार्थना कर रहा है।

(ख) विराटदर्शन करते हुए अर्जुन के मुख से जो हृदय का उद्गार है एवं भगवान ने "कालोऽस्मि" कहकर जो अपना परिचय दिया है, इनसे विदित होता है कि अर्जुन की अनुभूति का विषय सर्वनियन्ता, सर्वशासक शक्तिविशेष है।

(ग) अर्जुन इस विश्वशक्ति को अपने अन्दर निर्बाधित रूप से प्रवाहित करने दे — यही विराट्दर्शन कराने का उद्देश्य मालूम होता है। अन्त में निर्देश भी "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" ही है।

(घ) विश्वरूप दर्शनान्तर भी पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम तत्त्व के प्रतिपादन तक भगवान स्वयं अर्जुन को गुह्यतम बातों का उपदेश दे रहे हैं। अध्याय १८ में जाकर ही अर्जुन स्वीकार करता है "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा"।

शिवगीता में

(क) इस अध्याय के प्रारंभ में ही राम का कहना है कि हमारे पूर्व प्रश्न का उत्तर पूर्णतया प्राप्त न होने से उसी को और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इसके उत्तर में शिव कुछ

उपपत्तियों के द्वारा उनको समझाते हैं। इससे भी राम को सन्तोष न होने पर ईश्वर के सर्वात्म भाव का साक्षात्कार कराने के लिये ही विश्वरूप दिखाया जाता है।

(ख) इस साक्षात्कार का विषय जगन्नियन्ता शक्तिमान् सत्ता नहीं है, अपितु एक अखण्ड चिदानन्द-रसघन ब्रह्म है, जिसमें ही भ्रान्ति या निद्रादोषजनित सर्प या स्वप्नलोक की तरह मिथ्या जगत भासित हो रहा है। यह राम की स्तुति से स्पष्ट है।

(ग) इस ज्ञान का परिणाम उस ब्रह्म के साथ एकता का अनुभव है। निमित्तत्व का उपदेश अध्याय ५ के अन्त में ही हो चुका है। दर्शनान्तर राम कहते हैं :– "प्रतीतं जगदैकात्म्यम्" और शिव उसकी पुष्टि करते हैं :– "मत्तो नान्योऽस्ति कश्चन"।

(घ) इस अनुभव के बाद उत्तर ग्रन्थ में श्रेष्ठतर किसी तत्त्व का उपदेश नहीं मिल रहा है। देहस्वरूप, जीवस्वरूप, जीव की शरीरान्तर में गति, भक्ति एवं मोक्ष के लक्षण, उपासना के प्रकार आदि साधना-सम्बन्धी विचारों का ही विवरण आगे दिया गया है — ठीक जैसे भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय के बाद के अध्यायों में। इस अध्याय के श्लोक २१ में स्पष्ट कहा गया कि शिव के द्वारा दिये गये ज्ञानचक्षुओं से सर्वात्म शिव का दर्शन करते ही राम के अन्दर तत्त्वज्ञान का उदय हो गया था ("उत्पन्न तत्त्वज्ञानोऽपि बभूव रघुनन्दनः")। अतः यहीं ज्ञानोपदेश का उपसंहार है, शेष परिशिष्ट रूप है। प्रतीत होता है कि अन्य साधकों के उद्धार की दृष्टि से ही लोकसंग्रहार्थ राम प्रश्न कर रहे हैं।

श्लोक २७

चिन्मात्र ज्योति ही तेज या प्रकाश है। यही प्रकाश दृश्य और द्रष्टा दोनों बनता है, जैसे स्वप्न में पुरुष की चेतना ही स्वप्नद्रष्टा बनकर सड़क पर घूमती है और वही सड़कवत् दृश्य भी बनी हुई चारों ओर के स्वप्न दृश्य को देखती है। इसी

प्रकार जाग्रत में भी चैतन्य प्रकाश ही इन्द्रियों में दृष्टिरूप से आरूढ़ होकर द्रष्टा-दृश्य-दर्शन भेद को निर्मित करता है । इसलिये प्रत्येक दर्शन के मूल में शुद्ध चैतन्य प्रकाश है । यहाँ राम, दर्शन के प्रथम क्षण में स्थित होकर, दर्शनप्रथमाभास उसी आत्मचैतन्य प्रकाश रूप से सबको देख रहे हैं । उस प्रकाश के बिना जगत को कौन देख सकता है ? इस अर्थ में कठ (२.२. १५), मुण्डक (२.२.१०) एवं श्वेताश्वर (६.२४) उपनिषदों का प्रसिद्ध मन्त्र "न तत्र सूर्यो भाति . . ." अनुसन्धान योग्य है ।

श्लोक २८

जैसे कृष्ण ने यशोदा को अपने बालक-मुख में ही ब्रह्माण्ड का दर्शन कराया था वैसे ही यहाँ राम को शिव विराट दिखा रहे हैं । इससे यह बात सरल तथा समझ में आ जाती है कि यह दिखाना ही एक माया या अध्यास मात्र है । अर्जुन के विराट-दर्शन में यह भूल होने की सम्भावना है कि विशाल, विकराल काल रूप के अन्दर वास्तव में सारी ब्रह्माण्डगति हो रही है ।

श्लोक २९

कुतार्किक नैयायिकों का आग्रह है कि जगत वास्तविक कार्य है, उसका कारण अवश्यम्भावी है और यह कारण कार्य से अन्य ही होना चाहिये । इसके खंडन में रज्जु-सर्प दृष्टान्त दिया गया है ।

"नीलकण्ठ" सम्बोधन महत्त्वपूर्ण है । जैसे स्वच्छ स्फटिक विग्रह समान शिव देह में एकदेशीय कण्ठस्थ कालिमा जगद्-उद्धार का द्योतक होते हुए विग्रह की शोभा को बढ़ाती है, उसी प्रकार अपने अमृतमय शुद्ध-चैतन्य स्वरूप में जगत-कल्पना एकपादीय होकर अनादि जीवों के कल्याण के लिये जड़—चेतन विवेक द्वारा ब्रह्मस्वरूप को स्पष्टतर कर देती है । पुष्पदंत का प्रसिद्ध वचन —"विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभंगव्यसनिनः" से भी यह ज्ञात होता है ।

ब्रह्म सूत्र में जगतकारणत्वेन ही ब्रह्म का प्रतिपादन है। अनुभूति की गहराई में प्रवेश करने पर राम का निश्चय है कि ब्रह्म आधारत्वेन या अन्य किसी प्रकार से भी जगत का कारण नहीं बन सकता। इस विरोध के निरास में यह ज्ञात होना चाहिये कि ब्रह्म सूत्र के "जन्माद्यस्य यत:" सूत्र के पूर्व प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"—अर्थात् यह ब्रह्म को जानने के इच्छुक अधिकारी साधक को बतलाया जा रहा है। साधक की दृष्टि में जगत है, अत: उसका अनुवाद करके ही ब्रह्म का उपदेश दिया जाना उचित है, परन्तु जहाँ ब्रह्म सिद्ध है या साक्षात्कृत है वहाँ इसका बाध हो जाता है।

श्लोक ३०

कार्य के मिथ्यात्व निश्चय होने पर कारण के कारणत्व का भी विसर्जन करने की प्रक्रिया को आचार्य शंकर "अपरोक्षानुभूति" में स्पष्ट कर देते हैं।

कारणं व्यतिरेकेण पुमानादौ विलोकयेत् ।
अन्वयेन पुनस्तद्धि कार्ये नित्यं प्रपश्यति ।।
कार्ये हि कारणं पश्येत् पश्चात् कार्यं विसर्जयेत् ।
कारणत्वं ततो नश्येदवशिष्टं भवेन्मुनिः ।।

श्लोक ३१–३३

श्रुति के अनुसार परावर ब्रह्म दर्शन के बाद सारा कर्म क्षीण हो जाता है, जिसका अनुभवपूर्ण चित्रण इस श्लोकत्रय में है। यहाँ पूजा आदि उपासना एवं इष्टापूर्त आदि कर्मों का खण्डन नहीं, क्योंकि साधना के अंगरूप से आगे इनका प्रतिपादन है। सर्वात्मभाव-सिद्धि में ये सारे साधन एवं इनका आधार भी समाप्त हो जाता है। सिद्ध का अनुभव है—"किं गृह्णामि त्यजामि किम् (मैं किसके निमित्त क्या छोड़ूँ, किससे क्या ग्रहण

करूँ ?") भगवद्गीता (५.१५) में भी कहा है — "नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।"

श्लोक ३४

आकाश के दृष्टान्त से जगतवैचित्र्य को कल्पित बतलाते हुए जगत धर्मों की अलिप्तता का भी निरूपण है । देखें, भगवद्गीता १३.३२ । "घट के नाश से घटाकाश नष्ट नहीं" इसमें नाश की उपलक्षणा से उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय आदि सभी विकारों का निषेध समझना चाहिये ।

श्लोक ३५

सूर्यदृष्टान्त से जीववैचित्र्य का निषेध कर जीवधर्मों से ब्रह्मस्वरूप की अलिप्तता बतलायी गयी है । देखें, कठोपनिषद् (२. २. ११) एवं भगवद्गीता (१३.३३) । जगद्-ब्रह्म-ऐक्य में अवच्छेद-वाद एवं जीव-ब्रह्म-ऐक्य में प्रतिबिम्बवाद के औचित्य व सुगमता की व्यवस्था भी इन दोनों श्लोकों (३४ व ३५) में मिलती है ।

श्लोक ४४

विश्वरूप के उपसंहार के बाद राम को जो इष्टदर्शन हुआ उसमें शिव महारसिक उमापति न होकर एकाकी जगत्पति के रूप में दिखायी दिये । इसमें रहस्य यह है कि आगे तीव्रतम वैराग्य का प्रतिपादन होना है । ऐसा उपदेश एकांतवासी त्यागी गुरु के मुख से ही शोभनीय व सार्थक हो सकता है ।

यद्यपि शिव में राग-विराग दोनों समन्वित हैं या दोनों असम्भव हैं, फिर भी वेदान्त-उपदेश-परम्परा की मर्यादा का रक्षण करते हुए शिव द्वारा उसका अनुकरण श्लाघ्नीय व शिक्षाप्रद है।

अध्याय ८

श्लोक १

विचार में प्रवृत्ति करने के लिये शिवने राम को निमन्त्रित किया था। उसको स्वीकार करके राम विचार को प्रारम्भ करते हैं। आत्मा अनात्मा को विवेक द्वारा अलग करके पहचानना विचार है। इसमें प्रथम उपस्थित एवं सुगमतर पक्ष अनात्मा का होने से उसी का प्रश्न उठाते हैं। अनात्मतत्त्व में भी अतिस्थूल और निकटतम शरीर है। अतः उसके स्वरूप की जिज्ञासा है।

सूतसंहिता (ज्ञानयोग खंड, अध्याय १०) में पिण्डोत्पत्ति-कथन है। उसी नाम से यहाँ शिवगीता उसी विषय का अधिक विस्तार से प्रतिपादन कर रही है।

श्लोक ८

रजोदर्शन के बाद की चार निषिद्ध रात्रियों को छोड़कर-पंचम आदि में गर्भाधान के भिन्नभिन्न फल व्यासस्मृति के अनुसार नीचे दिये गये हैं :–

गर्भाधान रात्रि	सन्तति
पाँचवीं	पुत्र वाली नारी
छठो	मध्यम स्तर का पुत्र
सातवीं	प्रजाहीन नारी
आठवीं	ऐश्वर्य वाला पुत्र
नवीं	सुभगा स्त्री
दसवीं	श्रेष्ठ पुत्र
ग्यारहवीं	अधर्मा स्त्री
बारहवीं	पुरुषोत्तम
तेरहवीं	पापिष्ठ वर्णसंकरकारिणी पुत्री

चौदहवीं	धर्मज्ञ, आत्मज्ञानी पुत्र
पन्द्रहवीं	पतिव्रता
सोलहवीं	सर्वजगत का आश्रय महानपुरुष

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्यारहवीं और तेरहवीं रात का संस्कार अवांछनीय है। अतः मनु कहते हैं "प्रशस्ता दश रात्रयः"। इन में भी श्राद्ध दिन, जन्म दिवस एवं सभी मुख्य पर्व के दिन वर्जित हैं।

श्लोक ५९

गर्भवती की भावनाओं का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है। इस बात को वैज्ञानिक भी स्वीकारते हैं। माँ की मनमानी कामनाओं की पूर्ति का यहाँ उपदेश नहीं है, अपितु माँ को चेतावनी है कि अपनी अभिलाषाओं को शुद्ध, उन्नत और सौम्य रखे जिससे शिशु की भी भावनाएँ वैसी ही निर्मित होकर उसके जीवन को सुखमय और सात्त्विक बना सकें। इस विषय में अद्वितीय ज्ञानी-भक्त बालक प्रह्लाद का दृष्टान्त लोक-प्रसिद्ध है।

श्लोक ६०

पशु-पक्षी आदि को बलात्कार से कहीं ले जाना हो तो गले में रस्सी बाँधना या पिंजरे में बन्द करना पड़ता है। इसी प्रकार जीव को नरक ले जाने के लिये भी एक शरीर का बन्धन या अवलम्बन चाहिये। इसे यातना–देह कहते हैं। दूसरी बात, सुख-दुःख का भोग शरीर के आधार पर ही होता है, "शरीरं भोगायतनम्"। तीव्रतम भोग को साधारण शरीर सहन नहीं कर सकेगा, अतः नरकयातना भुगाने के लिये एक विशेष यातना–शरीर में जीव को आरूढ़ किया जाता है जो छेदन, जलन आदि अत्यन्त पीड़ाप्रद क्रिया का विषय होते हुए भी जीवसम्बन्ध को नष्ट नहीं होने देता।

श्लोक ६७–६८

मृत्यु और जीवन एक दूसरे के प्रति कारण कैसे होते हैं, इस रहस्य को विचार से समझना पड़ेगा। जन्म उसे कहते हैं जब एक वस्तु का अविद्यमान अस्तित्व उत्तर क्षण में विद्यमान हो जाता है। अर्थात् यह एक परिणामविशेष है। पूर्व स्थिति बदलकर वर्तमान हुआ तो उसी न्याय से यह भी सिद्ध है कि वर्तमान स्थिति भी बदल जायगी। वर्तमान अस्तित्व का बदलना ही मृत्यु कहा जाता है। पूर्व स्थिति की दृष्टि से वर्तमान में प्रकट होना भी मृत्यु ही है। अतः जीव का किसी शरीर में जन्म लेना तभी संभव है जब पूर्वक्षण में उसका अन्य किसी शरीर में मरना होगा। इसलिये मृत्यु ही जन्म का बीज है।

जन्म, अर्थात् शरीर के साथ संबंध, होने पर अनिवार्य रूप से जीव कर्म करने लग जाता है। इन नूतन कर्मों के भोग के लिये जीव को नूतन शरीर में जाना आवश्यक हो है, क्योंकि एक ही भौतिक परिस्थिति में सब प्रकार व परिमाण का भोग संभव नहीं। अतः कर्म के बल से उसे वर्तमान शरीर को छोड़ना पड़ता है। इस प्रकार जन्म ही मृत्यु का बीज है।

इसी बात को भगवद्गीता (२.२०) भी प्रतिपादित करती है। परन्तु वहाँ जिसको अपरिहार्य कह कर छोड़ दिया उसको शिवगीता एक महान व्याधि बतलाकर उसकी औषधि का भी निर्देश करती है। यहाँ पौरुषेयता पर ही जोर दिया है।

अध्याय ९

श्लोक २

दृष्टान्त में — सीप को देख कर भ्रमित व्यक्ति "यह चाँदी है" ऐसा अनुभव करता है। इस अनुभव में 'यह' से जिसका ग्रहण हो रहा है वह सामने विद्यमान प्रत्यक्ष सिद्ध सीप है। पर उस सीप के अन्दर "यह सीप है" ऐसे प्रमाज्ञान को प्रकट करने

की शक्ति होने पर भी भ्रम के कारण "सीप"पना के लुप्त होने पर केवल "यह" पना प्रकट हो रहा है। इस "यह" पना के प्राकट्य बिना "यह चाँदी है" ऐसा भ्रम ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसी प्रकार दार्ष्टान्त में मात्रा के प्रभाव से ब्रह्म के प्रत्यक् (चैतन्य) पना व आनन्दस्वरूपता के लुप्त होने पर ब्रह्म की सत्ता या "है"पने में जगतरूपता का आरोप होकर "यह जगत है" ऐसी अनुभूति होती है।

श्लोक १८

अन्तःकरण (या मन) सभी करणों का राजा है। अतः उसमें ज्ञान-कर्म के उभय लक्षण विद्यमान हैं। संकल्प-विकल्प मानसिक क्रिया है। सुख-दुःख आदि के प्रकाशन में मन ज्ञानेन्द्रिय का कार्य करता है।

श्लोक २०

प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रायः अन्तःकरण का त्रिगुणात्मक विचार ही पाया जाता है। परन्तु शुद्धसत्त्व की स्थिति, जिसका उल्लेख शिवगीता कर रही है, साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कैवल्योपनिषद् आदि श्रुतियों में शुद्धसत्त्व को ही ज्ञानोदय का साधक बतलाया है। भगवद्गीता में भी "निस्त्रैगुण्योभवार्जुन" कहकर आगे "नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्" से शुद्धसत्त्व का ही उपदेश है। शुद्ध सत्त्व के लक्षणों का विशद वर्णन आचार्य शंकर के विवेकचूडामणि में द्रष्टव्य है।

श्लोक ३१

यहाँ दश प्राणों के स्थान, क्रिया आदि का प्रतिपादन सूतसंहिता (ज्ञानखंड, अध्याय ११) के अनुसार है।

श्रीसुरेश्वराचार्य के मत में अन्न रस को शरीर में सर्वत्र व्याप्त कराना व्यान वायु का कार्य है। समान केवल शरीर की

उष्णता का संरक्षण करता है (मानसोल्लास ९. १६)। धनंजय वायु शरीर की स्थूलता का कारण है। इसलिये कहा गया कि यह वायु मृत्यु के बाद भी काम करती है। कुछ वेदान्ती प्राणादि पंच को ही मानते हैं एवं नाग आदि पंच के कार्यों को इनके अन्तर्गत ही कर लेते हैं। अन्यत्र यह व्यवस्था की गयी है :– एते प्राणादयः पंच मध्यकोशेषु संस्थिताः। त्वगादि-पंचकोषस्था नागाद्या बाह्यवायवः॥

श्लोक ४९

खेद और आश्चर्य इसलिये कि यह शरीर ब्रह्मज्ञान के द्वारा जीवन्मुक्ति रूपी महान लाभ का उपाय होते हुए भी उसको अतिक्षुद्र विषय भोग प्राप्ति का साधन बनाकर मनुष्य मुक्ति लाभ से वंचित रह जाता है—"अल्प बुद्धि" के द्वारा इस विचार को सूचित किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य इसी को कृपणता बतलाते हैं। मानवशरीर के स्वरूप विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विषयभोग का साधन या आसक्ति का विषय नहीं हो सकता है। मानवदेह की अपेक्षा अन्य प्राणियों के शरीर अधिक भोगसामर्थ्य रखते हैं और सम्भवतः अधिक सुन्दर एवं उपयोगी भी हैं। मानवशरीर के सृजन के पीछे तात्पर्य भोग या भौतिक उपादेयता से इतर और कुछ है। वाणी की अभिव्यक्ति, विज्ञानमय कोश का पूर्ण विकास आदि अन्य मौलिक विशेषताओं को मानव तन में देखने पर शास्त्र का यह वचन सिद्ध होता है कि "जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्मधारितम्"—जीवन्मुक्ति सुख की प्राप्ति के लिये ही जीव का मानव-जन्म-धारण है। इस दृष्टि से ही यहाँ उपदेश है कि मनीषी पुरुष अपने देहस्वरूप को समझने का प्रयत्न करें।

केवल देह की निन्दा करके उसको सुखाने की तामसिक तपस्या, व्रत आदि में रत रहना वैदिक दृष्टिकोण नहीं है।

"अस्मिन् ब्रह्मपुरे" (सामवेद), "नरजन्मदुर्लभम्" (विवेक चूडामणि), "प्लवं सुकल्पं" (श्रीमद्भागवत्), "देहो देवालयः प्रोक्तः" (उपनिषद्प्रकरण), "देहो नवरत्नद्वीपः" (भावनोपनिषद्) आदि वचनों की गरिमा को ध्यान में रखना चाहिये।

अध्याय १०

श्लोक १–४

पूर्व अध्याय में शरीर का वर्णन वैराग्य उत्पत्ति के लिये किया गया था। वैराग्य के द्वारा भौतिक जगत की असारता को पहचानने मात्र से विशेष लाभ नहीं होता। असार तत्त्व के आकर्षण से मुक्त होकर सार तत्त्व की प्राप्ति का प्रयत्न करना उचित है। इसलिये सार की जिज्ञासा यहाँ प्रकट की जाती है।

याद रहे, राम को अध्याय ८ में सर्वात्मस्वरूप–चैतन्य का ज्ञान हो चुका है। शरीर स्वरूप जड़-तत्त्व का ज्ञान गत अध्याय में कराया गया था। इन दोनों तत्त्वों का असम्भावित सम्बन्ध ही जीवरूप से संसरण को संभावित कर रहा है। अतः जीवत्व को चिज्जड़ग्रन्थि कहते हैं। इस सम्बन्ध के रहस्य विषयक प्रश्न किया जा रहा है। इसलिये प्रतिवचन में शिव इसे अति गुह्यतम बतला रहे हैं। प्रसिद्ध कठोपनिषद् के नचिकेता–यमराज प्रश्न-प्रतिवचन के साथ इस प्रसंग की तुलना को जा सकती है।

श्लोक १ में किये गये पाँच प्रश्नों में से तीन प्रश्नों के उत्तर इस अध्याय में एवं शेष दो के उत्तर अगले अध्याय में दिये गये हैं। यहाँ सबसे पहले 'जीवस्वरूप क्या है' यह बतलाया। जीव शरीर में क्यों आता है, इसके कुछ संकेत १६ से लेकर २० पर्यन्त के पाँच श्लोकों में मिलते हैं। इसी के विस्तार में श्लोक ३२ से अध्याय समाप्ति तक जीव की जाग्रद्भोगोपलब्धि-प्रक्रिया का वर्णन है।

इसके पूर्व श्लोक २१ से लेकर ११ श्लोकों में 'जीव कहाँ रहता है?' इस प्रश्न का उत्तर मिलता है।

श्लोक ८

इस में तैत्तिरीय उपनिषद् का मन्त्र केवल एक शब्द परिवर्तन-पूर्वक दिया गया है। शिवगीता अध्याय ६, श्लोक ५० में यही श्लोक आया है। वहाँ की विशेष व्याख्या द्रष्टव्य है।

श्लोक ९–१०

ये ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र ६ और ७ के अनुसार हैं।

श्लोक ११

यह अक्षरशः कठोपनिषद् का (१.३.१२) मन्त्र है। इसका प्रत्येक शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका उद्‌घाटन शांकरभाष्य में किया गया है। यहाँ उल्लिखित तीन विशेष साधनाएँ ध्यान देने योग्य हैं:

बुद्धि संस्कृत, सूक्ष्म व एकाग्र होनी चाहिये। विषय-भोग वासना के सिवा अन्य दिव्य वासना से रहित होना ही बुद्धि का असंस्कृत होना है। दिव्य-वासना-हीन बुद्धि दिव्य जीवन के उपदेश के प्रति आकृष्ट ही नहीं होगी। उपदेश सुनने पर भी सूक्ष्मता न हो तो उपदेश के विषय में प्रवेश नहीं हो पाएगा। सूक्ष्म तत्त्वों का आलोचन या गहन-चिन्तन करने की सामर्थ्य ही बुद्धि की सूक्ष्मता है। आलोचन करने पर भी उसके निष्कर्ष रूप से प्राप्त अध्यात्म तत्त्व में रत नहीं रहने से आत्मज्ञान से वंचित होना पड़ता है। इसी रति के लिये एकाग्रता की आवश्यकता है। इस प्रकार उपयुक्त बुद्धि की तीन विशेषताएँ वेदान्त के प्रसिद्ध श्रवण-मनन-निदिध्यासन साधना-त्रय के साथ सम्बन्धित हैं। इन तीनों को एक साथ सम्पादित कर साधना में प्रयुक्त करना चाहिये। अन्यथा केवल संस्कार वाला भावनाओं के उफ़ान में ही रह जाता है, केवल सूक्ष्मता वाला वावदूक व ग्रन्थ का कीड़ा बन जाता है और केवल एकाग्रता वाला हठयोगी मात्र सिद्ध होता है।

श्लोक २१–२४

जीव चैतन्य के निवास स्थान हृदय का विशद वर्णन नारायण उपनिषद् आदि में है। यह हृदय रक्त संचार के केन्द्रीभूत अंग विशेष (दिल,Heart) से सर्वथा भिन्न है। दिल शरीर के वाम भाग में स्थित एक स्थूल माँस-पिण्ड है। शास्त्रोक्त हृदय मेरुदण्ड के अन्तर्गत सुषुम्ना नाड़ी के मध्यस्थ सूक्ष्म नाड़ीकेन्द्र है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से यह चक्षुगोचर नहीं है। हृदय से भी सूक्ष्मतर उसके भीतर का दहराकाश है। उस आकाश में अभिव्यक्त चैतन्य का सूक्ष्मतम होना स्वाभाविक है। आत्मसूक्ष्मता में वालाग्र का दृष्टान्त कठोपनिषद् का है। इससे स्पष्ट है कि जीवचैतन्य को स्थूल दृष्टि से समझना असम्भव है। वह प्रत्यक् दृष्टि में वेदान्त संस्कारान्वित विचार के द्वारा अनुसंधान करने पर ही समझ में आता है। अथवा दहराकाश प्रतीक द्वारा उपासना करने से भी आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। छान्दोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में इस उपासना का वर्णन है।

श्लोक २६

बन्धन का हेतु होने पर भी कर्मफल को हित कहा गया है। यह लौकिक दृष्टि को लेकर है। साधारण पुरुष विषय-सुख को ही हित समझता है चाहे वह विषय विहित हो या निषिद्ध। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि पाप-पुण्य के भोग द्वारा ही व्यक्ति में प्रौढ़ता आती है। सारा भोग वास्तव में दुःखरूप ही है—"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते" (भगवद्गीता ५.२२)। दुःख से संतप्त होने पर जन्मजन्मान्तर में विचार एवं वैराग्य की उत्पत्ति से मनुष्य अध्यात्म साधना में प्रविष्ट होता है और कालान्तर में मोक्ष को पा लेता है। परम हित मोक्ष का साधन होनेसे ही कर्मफल भोग को गौणतया हित कहा गया है।

श्लोक २९

अनन्ता नाड़ी का उल्लेख कठोपनिषद् (२. ३. १६) में है। इसे सुषुम्ना कहने का तात्पर्य यह है :—

सुषु + √म्ना + क = जिसमें स्पष्टतया या दृढ़तापूर्वक याद करना संभव हो।

संसार में याद करने लायक केवल आत्मस्वरूप शिव ही है। उसकी स्मृति या प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान रूपी दृढ़ साक्षात्कार जहाँ उत्पन्न होता है, वह सुषुम्ना है। कठोपनिषद् मंत्र से सिद्ध होता है कि कुण्डलिनी-योग वैदिक है, यद्यपि कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा चेतना को सुषुम्ना में ले जाने की गूढ प्रक्रिया आगम व योग शास्त्रों में बहुत विस्तार से वर्णित है। हठयोग प्रदीपिका में सुषुम्ना के इतर नाम इस प्रकार दिये हैं :

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः॥

श्लोक ३३–३४

"अभिव्यक्तविशेषधी" में अभिव्यक्ति का तात्पर्य आवरण निवृत्ति में है। वेदान्तप्रक्रिया के अनुसार विषयज्ञान की उत्पत्ति इस प्रकार है :

चैतन्य स्वयं ज्ञानस्वरूप और सर्वव्यापक है। जाननेवाले अन्तःकरण में और ज्ञान के विषय घट आदि में वह व्याप्त है। फिर भी दूरस्थ घट का ज्ञान इसलिये नहीं होता कि घटावच्छिन्न चैतन्य पर अज्ञान का आवरण है जिसका नाश तभी होता है जब अन्तःकरण घटरूपको देखने में समर्थ चक्षुरिन्द्रिय (या घट के आकार व स्पर्श को ग्रहण करने योग्य त्वगिन्द्रिय) के द्वारा बहिर्गमन करके विषय-स्थल में पहुँचकर घटाकार बन जाता है। इसी को अन्तःकरणवृत्ति कहते हैं। जैसे नहर में बहता हुआ जल खेत में जाकर खेत की आकृति वाला बन जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म तैजस पदार्थ होने से

अन्तःकरण विषयाकारा वृत्ति में परिणत हो जाता है । उस समय वहाँ विषयस्थल में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का भी वृत्ति के द्वारा प्रतिफलन है और साथ ही वृत्ति से विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है । अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य की एकता स्थापित होने पर विषयज्ञान उत्पन्न होता है । तभी "यह घड़ा है" ऐसा अनुभव होता है ।

"जाग्रद्भोगोपलब्धये" कहकर स्वप्नावस्था की विलक्षणता द्योतित कर रहे हैं । स्वप्न में विषय बाहर नहीं है एवं उनको ग्रहण करने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता भी नहीं । यहाँ अन्तःकरणान्तर्गत संस्कार ही विषय है । प्रारब्ध कर्मानुसार जो संस्कार उदय होता है तदाकारा अन्तःकरणवृत्ति अन्दर ही बन जाती है । शेष प्रक्रिया समान है ।

श्लोक ५०–५४

स्त्री-संभोग का दृष्टान्त बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ३. २१) में से लिया गया है । वहाँ के प्रकरण में यह पूर्वपक्ष किया गया है कि सुषुप्ति में कुछ नहीं सिद्ध होने से आत्मा को अभावरूप ही मानना पड़ेगा । इसके निराकरण में दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि अन्दर-बाहर का भान न होने पर भी स्वयं की चैतन्यज्योति अलुप्त है । दार्ष्टान्त में प्रज्ञा ही स्त्री है जिसके द्वारा परिष्वक्त (आलिंगित) होने पर चित्त एक सुख-रसरूप हो जाता है और इस एकता या तन्मयता के कारण ही बाहर-भीतर का भेद मिट जाता है, न कि आत्म-सत्ता के अभाव के कारण । यदि आत्म-सत्ता न मानें तो सुषुप्ति में प्रपंच लय का साक्षितया अनुभव भी नहीं हो सकता ।

इन श्लोकों में सुषुप्ति अवस्था का जो वर्णन है उससे स्पष्ट है कि मुक्ति की कैवल्य-स्थिति से सुषुप्ति का केवलीभाव सर्वथा भिन्न है । यद्यपि सुषुप्ति में नित्यमुक्त ईश्वर के साथ जीव का

ऐक्य माना जाता है तथापि यह प्रमाण-जनित यथार्थ ज्ञान को लेकर नहीं अपितु भेद-हेतु उपाधियों के अभाव को लेकर है । अतः सुषुप्ति के अन्दर परिच्छेद-विलय-जन्य आनन्द का आविर्भाव होने पर भी "मैं ईश्वर हूँ" इस प्रकार के प्रमाज्ञान के अभाव से अज्ञान का नाश नहीं होता । उसी अज्ञान बीज से पुनः जाग्रत आदि बन्धन-अवस्थाएँ अंकुरित हो जाती हैं । इसी दृष्टि से सुषुप्ति को बन्धन या संसरण का ही एक स्तरविशेष माना गया है । सुषुप्ति ब्रह्मवादियों के मत का यहाँ खंडन है ।

अध्याय ११

श्लोक १३

जीव की तीन गतियों का प्रतिपादन आरम्भ हो रहा है । पाप कर्म वाले नारकीय योनि को प्राप्त करते हैं । पुण्य कर्मवाले पितृलोक आदि विशेष सुख स्थानों को प्राप्त करते हैं । इसके लिये धूम-मार्ग या पितृयान का आश्रयण करना पड़ता है । तीसरी गति ब्रह्मलोक में जाकर क्रममुक्ति प्राप्त कराती है । इसके लिये अर्चि-मार्ग या देवयान का आश्रयण किया जाता है । इन मार्गों के विषय में छान्दोग्य आदि श्रुतियाँ साक्षात् प्रमाण हैं । अतः प्रत्यक्षसिद्ध धूम आदि पदार्थ या चन्द्र आदि ग्रहों का यहाँ भ्रम नहीं होना चाहिये ।

श्लोक ३७–४०

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानंद वल्ली के अष्टम अनुवाक में आनन्द-मीमांसा के नाम से यही विचार आया है । उसमें मनुष्य-आनन्द के बाद उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर आनन्द की दस मात्राओं को बतलाते हुए प्रत्येक मात्रा के बाद "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" का अभ्यास करती हुई श्रुति स्वयं काम को जीतने वाले श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ की उत्तमता का प्रतिपादन करती है ।

श्लोक ४३

इसके बाद "ज्ञानिभ्यो दीयते यच्च तत्कोटिगुणितं भवेत्" — यह पंक्ति "नि. मू." एवं "वे." संस्करणों में उपलब्ध है, पर "नि. बा." में नहीं। अनावश्यक प्रतीत होने से यहाँ मूल पाठ में उसका संवेश नहीं किया गया है।

ज्ञानी के प्रति सत्कार-तिरस्कार से होने वाले इष्ट-अनिष्ट फल का यहाँ कथन ज्ञानी की उत्कृष्टता प्रतिपादन में अर्थवाद मात्र है। इसके द्वारा ज्ञानी बनने की प्रेरणा दी जा रही है, ज्ञानी के सेवन से पुण्य प्राप्ति का प्रलोभन नहीं।

श्लोक ४५

ब्रह्मज्ञानी ही ब्रह्मोपदेष्टा गुरु है। उसकी उपासना से ही ज्ञान संभव है। ज्ञानसाधनों में गुरुसेवा को प्रमुख बतलाने वाले "तद्विज्ञानर्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्", "आचार्याद्धि विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापति" आदि श्रुतियाँ एवं "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" आदि स्मृतियाँ प्रमाण हैं। तत्त्वदर्शी की अनुपलब्धि में गुरुसेवा का स्थान ईश्वरोपासना ग्रहण करती है। वास्तव में ईश्वर ही गुरुरूप से ज्ञानप्रदान कार्य सिद्धि के लिये अभिव्यक्त होता है (योगसूत्र १.२६)। गीता (१०.११) में यह स्पष्ट किया गया है कि सतत भजन से प्रेरित होकर ईश्वर ही शिष्य के हृदय में ज्ञान दीप को प्रज्ज्वलित करता है। अतः यहाँ ज्ञानोत्पत्ति के अनिवार्य साधन रूप से ईश्वरोपासना का प्रसंग आया है।

अध्याय १२

श्लोक १९–२०

श्वेताश्वतर उपनिषद् के द्वितीय अध्याय आदि श्रुति-प्रमाणों से उपर्युक्त विविक्तदेश के लक्षण सिद्ध होते हैं। विविक्त का अर्थ केवल निर्जन, एकान्त स्थान नहीं। घोर जंगल एकान्त है

परन्तु यदि हिंसक जीवों का भय हो तो ध्यान में विक्षेप होगा। मनोनुकूल वातावरण चाहिये। चक्षु को पीड़ित करने वाला दृश्य सामने न हो। अधिक वायुप्रवाह वांछनीय नहीं है। जलाशय के अत्यन्त निकट होने पर जलचर एवं जलपिपासु जीव-जन्तु की हलचल से मन चलायमान हो जाएगा। बैठने का स्थान समतल हो। उस भूमि को गोमय आदि द्रव्यों एवं विशेष मंत्रों के प्रयोग से शुद्ध करना चाहिये। जिस भूमि में साधना करके पूर्वकाल में किसी पुरुष ने सिद्धि प्राप्त की हो तो वह सिद्ध-भूमि सबसे श्रेष्ठ मानी जाएगी।

बिछाने के आसन का विचार अध्याय १६ में विस्तार से आया है।

"अत्याश्रमस्थ" शब्द कैवल्योपनिषद् में इसी प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। प्रायः उसका यथाप्रतीत अर्थ "आश्रम से अतीत होकर" किया जाता है जो अप्रासंगिक है। यहाँ इस शब्द के पारिभाषिक अर्थ को ही ग्रहण करना समीचीन है। सूतसंहिता, ब्रह्मगीता (११.९०) के :

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मनोद्धूलनं तथा।
त्रिपुण्ड्रधारणं चापि वदन्त्यत्याश्रमं बुधाः॥

एवं शिवपुराण (विद्येश्वर. अध्याय १८ श्लोक ८१) के :

भस्म वै शिवमन्त्रेण धृत्वा ह्यत्याश्रमी भवेत्।
शिवाश्रमीति संप्रोक्तः शिवैकपरमो यतः॥

प्रमाणों के अनुसार विशेष शिवमंत्रों से भस्म-धारण करना अत्याश्रम कर्म है। उस कर्म में स्थित साधक अत्याश्रमस्थ है।

श्लोक ३२

प्रणवोच्चारण पूर्वक ध्यान के लिये अरणि-मंथन दृष्टान्त भी श्वेताश्वतर और कैवल्य उपनिषदों से लिया गया है। इस दृष्टान्त की शिक्षा यह है :—

(१) ध्यान क्रिया दीर्घ काल तक अविरल रूप से होनी चाहिये ।

(२) ज्ञान अन्तःकरण के गर्भ में ही है । वहाँ से उसको मात्र प्रकट करने के लिये ही प्रणवावृत्ति है ।

(३) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही अग्नि है । उसी से जीवन-यज्ञ की सिद्धि और सफलता है ।

अध्याय १३

वेदान्त की विशुद्ध प्रक्रिया एवं उससे प्राप्य कैवल्यमुक्ति के प्रतिपादन से इस अध्याय को शीव गीता में एक अनुपम स्थान प्राप्त है । अध्याय के अन्त में शिवमुख द्वारा कथित फलश्रुति से यह बात पुष्ट होती है । अन्य अध्यायों के विषय में ऐसी फलश्रुति इस ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं । पूरी गीता का नित्य पाठ या श्रवण असम्भव हो तो केवल इस अध्याय का ही श्रवण या पाठ करें– ऐसा विधान भी इसकी गरिमा का द्योतक है ।

श्लोक ३–९

विविध मुक्ति का प्रतिपादन यत्र-तत्र शास्त्रों में भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है । सूतसंहिता में सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य चार ही प्रकार बतलाये गये हैं । जिनमें से सायुज्य कैवल्यमुक्ति का ही पर्यायवाची है और वही वास्तव में मुक्ति है । उस प्रसंग में सालोक्य और सारूप्य को भ्रममुक्ति कहा, क्योंकि वास्तव में इनके द्वारा बन्धन की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं होती । अशुद्ध चित्तवाले ही इन मोक्षों की प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं । सामीप्य को क्रममुक्ति कहा है, क्योंकि कालान्तर में कैवल्य मोक्ष मिल जाता है । इसके अधिकारी शुद्ध चित्तवाले हैं । अतीव शुद्ध चित्तवालों में ही शिवकृपा से कैवल्यमुक्ति की इच्छा उदित होती है ।

श्लोक १८–१९

यहाँ मुण्डक श्रुति (१. २. १२) का आधार लिया गया है। "विरज्य" से विचार व "घृणां वितत्य" से वैराग्य का संकेत है। श्रद्धालु की उपलक्षणा से षट्सम्पत्ति के शेष — शम, दम, उपरति, तितिक्षा–समाधान–पाँच साधनों का ग्रहण है। "ज्ञानलिप्सा" से मुमुक्षुता को प्रकट किया है। इस प्रकार यहाँ ज्ञान के प्रसिद्ध साधन–चतुष्टय का उल्लेख है।

ब्रह्मा के लोक में प्राप्त उत्तम भोगों में भी राग की संभावना को हटाने की आवश्यकता है। इसके लिये निम्नप्रकार के दोषों पर पुनः पुनः विचार करना है:—

(क) ये भोग कर्मजन्य हैं। कर्म में हमेशा क्लेश, चिन्ता, व्यय आदि अनिवार्य होने से इन भोगों की प्राप्ति में दुःख है

(ख) कर्म के अपूर्व समाप्त होने पर कर्मजन्य इन भोगों की भी समाप्ति है। उस समय उनके वियोग में अत्यन्त दुःख है।

(ग) स्वर्गादि में भी पूर्व पुण्यों के तारतम्य से भोगों का तारतम्य है। अतः भोग के समय में भी अन्यों के श्रेष्ठतर या अधिक मात्रा के भोग से ईर्ष्या, भोग के समाप्त होने का भय आदि भावना से भोग का सुख दूषित है।

(घ) यदि निर्विघ्न रूप से भोग करने की संभावना मान ली जाय तो भी आत्मविस्मृति कारक होकर पूर्णत्व प्राप्ति में विघ्न सिद्ध होगा। इस दृष्टि से यह दिव्य भोग तीव्रदुःखानुभव से भी अधिक हेय है।

श्लोक २२–२४

असंभावना दोष — जैसे नागरिकता से अपरिचित और सदा जंगल के निवासी भील के मन में रेलगाड़ी, बिजली की बत्ती आदि असंभावित हैं, वैसे ही शास्त्रीय सम्पर्क हीन लोगों में ब्रह्म तत्त्व की असंभावना है।

संशय दोष — जैसे क्षुधित व्यक्ति अपने सामने रखे गये खाद्य को देखकर "यह भोजन है" ऐसा जानकर भी यह संदेह हो जाने पर कि मेरे शत्रु ने इसमें विष मिला कर रख दिया होगा, उस भोजन में प्रवृत्ति नहीं करता है, वैसे ही आत्मतत्त्व को शास्त्र आदि से जानकर भी उसकी यथार्थता में संशय होने से आत्म-साक्षात्कार की साधना नहीं हो पाती ।

विपर्यय दोष — जैसे मरुस्थल में भटकने वाले को "यहाँ सब मरुभूमि है" ऐसा दृढ़ ज्ञान होने पर भी वहाँ जलपूर्ण तालाव का विपरीत दर्शन होता है, वैसे ही "सर्वत्र एक ही अद्वैत है" ऐसा निश्चय होने पर भी व्युत्थान व्यवहार काल में द्वैत की प्रतीति होती रहती है ।

इन तीनदोषों के कारण ही आत्मस्वरूप स्वयंज्योति होनेपर भी प्रतिबद्ध है । इनका निवारण क्रमशः श्रवण-मनन-निदिध्यासन से होता है । उत्तम अधिकारी के लिए श्रवणमात्र से, मध्यम को मनन सहित श्रवण से ज्ञानोदय हो जाता है । साधारणतया सभी साधकों के लिए तीनों साधनों का अवलम्बन आवश्यक है ।

इस तीनों का प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में उपलब्ध है । इस श्लोक में "लोहमण्यादिदृष्टान्तैः" कह कर उसी श्रुति का संकेत दिया जा रहा है । अनेक दृष्टान्तों के द्वारा, मन की संशय निवृत्ति कैसे की जाती हे, यह छान्दोग्य उपनिषद् के उस प्रसंग से अवगन्तव्य है ।

श्लोक ३१ –

पहले कही गई ज्ञान-साधन–सम्पत्ति में वैराग्य ही प्रधान है । अतः यहाँ मोक्ष साधना प्रसंग के उपसंहार में पुनः उसका उल्लेख कर रहे हैं । यह श्लोक कठोपनिषद् मन्त्र (६.१४) के अनुसार है ।

श्लोक ३३

वृक्षाग्र से गिरने के दृष्टान्त में यह तात्पर्य है कि :–

१ – वृक्ष से अपने सम्बन्धको छोड़ने में प्रयत्न है । भूमि के पास तो अनायास ही स्वतःसिद्ध आकर्षण शक्ति से आजाते हैं । इसी प्रकार जीव ने संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष को अविद्या के कारण स्वेच्छा से पकड़ रखा है । इस पकड़ को छोड़ने में या अध्यास के त्याग में प्रयत्न है । आत्मप्राप्ति स्वतःसिद्ध होने से क्रिया का अविषय है ।

२ – वृक्ष से गिरना साधारण दृष्टि से भयंकर है और 'नीचे आना' है । इसी प्रकार संसार धर्मों का त्याग या सभी आध्यात्मिक साधना लौकिक दृष्टि में मूर्खता या महान अवनति प्रतीत होती है । वास्तव में इसके द्वारा साधक उस स्थिर विज्ञानभूमि में जा रहा है जहाँ से यह वृक्ष प्ररोहित है ।

३ – वृक्षके मध्य से गिरने पर बीच की शाखाओं में ही अटक जाने की संभावना है । अतः "वृक्षाग्र" कहा है । इसी प्रकार कर्म, उपासना आदि मध्य शाखाओं में हैं । वेदान्त श्रवणजन्य ब्रह्माकारावृत्ति का अभ्यास वृक्षाग्र है । यहाँ से मुक्ति में प्रवेश का सीधा, शीघ्र और निश्चित मार्ग है ।

अध्याय १४

श्लोक १–५

'ब्रह्मतत्त्व के परिज्ञान से ही मोक्ष' — यह गत अध्याय में प्रतिपादित हो गया । यह सद्योमुक्ति जीवन का एक उन्नत और आकर्षक आदर्श सिद्ध हो रही है । मानव हमेशा से इस प्रकार के युक्तिसिद्ध, सर्वदोष रहित आदर्शों की कल्पना करता आया है । पाश्चात्य जगत ने इसे युटोपिया (काल्पनिक मानव स्वर्ग) के रूप में स्वीकार किया है । साधक के सन्तप्त हृदय में यह

सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि यह केवल कल्पना ही है या इसमें साक्षात्कार की संभावना भी है? प्रस्तुत प्रश्नका भी तात्पर्य यही है। श्लोक ४ के "ग्राह्यं वा" में 'वा' से विकल्पात्मक स्थिति ध्वनित हो रही है। युक्ति से विचार करने पर ब्रह्म का 'आत्मविद्यातपो मूलं' होना भी संभव प्रतीत नहीं हो रहा। योगाभ्यास रूप तप से सुदृढ़ीकृत ज्ञान उस तत्त्व को कैसे विषय कर सकता है, जो कि क्रिया एवं गुणों से रहित है। गुणों से युक्त का ही ज्ञान सदा अनुभव में आता है। उससे विलक्षण एक निर्गुण ज्ञान का अस्तित्त्व मान भी लिया जाय तो भी इस अन्त:करण से उसका ग्रहण होना सर्वथा असंभव है। अतः अग्राह्य ब्रह्म के अस्तित्व से बद्धजीव को कोई लाभ नहीं हो सकता। यही खिन्नता का कारण है।

इसके उत्तर में युक्ति पूर्ण प्रतिपादन यह है कि अन्त:करण उस विशेष शक्ति से सम्पन्न है जिससे परिछिन्न स्थूल प्रतीकों के द्वारा भी वह अपरिछिन्न अतिसूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण कर लेता है। नृत्य में स्थूल शरीर के अंग-विन्यास से, गान में स्थूल शब्द एवं स्वर-विलास से और चित्र में स्थूल रेखा रंगों के अंकन से रौद्र, सौम्यादि सूक्ष्मभावों को रसिक हृदय के प्रति प्रकट किया जाता है। इसी प्रकार कुछ विशेष स्थूल प्रतीकों को लेकर अति-सूक्ष्म अग्राह्य आत्मतत्त्व को भी प्रकट कर सकते हैं।

वैदिक विवाह संस्कार परम्परा के अनुसार वर वधू को गगनस्थ सप्तऋषि मण्डल में नक्षत्र रूपसे विद्यमान वशिष्ठ-पत्नी अरुन्धती दिखाता है, जोकि गृहिणियों में अमर एवं उज्ज्वल आदर्श है। परन्तु अरुन्धती नक्षत्र अति सूक्ष्म है (अतः "अरुन्धतिका" कहा है)। आकाश में बिखरे हुए असंख्य नक्षत्रों में इसकी ओर दृष्टि को ले जाने के लिये शुक्र आदि ग्रहों का निर्देश कर उनके पास के ऋक्षाकृति सप्तऋषि मण्डल को दिखाते हैं। उस मण्डल का भी फिर संकोच कर एक सीध में स्थित तीन नक्षत्रों

का निर्देश होता है । उसमें केवल तृतीय नक्षत्र को ही देखने पर उससे लगी हुई सूक्ष्म ज्योति दृष्टिगोचर हो जाती है । "यही अरुन्धती है" वर के ऐसा कहने पर अरुन्धती का ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार प्रपञ्च के विस्तार में से मनको पञ्चकोश में ले जाकर, उसमें भी एक एक कोश को लाँघकर आनन्दमय कोश रूपी वशिष्ठ नक्षत्र को साधक समाधि में ग्रहण करता है । गुरु रूपी वर के महावाक्य उपदेश का अद्वैत संस्कार जागृत होते ही वहाँ आनन्द चिन्मूर्ति अरुन्धती का ग्रहण हो सकता है । यह प्रक्रिया स्थूलारुन्धतिका-न्याय से प्रसिद्ध है ।

श्लोक २७

जीव का कर्तापन विज्ञानमय कोश में तथा भोक्तापन आनन्दमय कोश में केन्द्रित है। परन्तु आनन्दमय कोश में जीव की स्थिति साक्षीरूपेण भी होती है । जैसे "मैं आनन्द से सोया था और कुछ नहीं जाना" इस प्रकार की अनुभूति सुषुप्ति में स्पष्ट है । यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि जो साक्षी होगा वह भोक्ता नहीं बन सकता । जीव के इन उभय रूपों की एक ही समय में सम्भावना को धूप-छाया के दृष्टान्त से समझाया है। सूर्य प्रकाश = शुद्ध आत्मचैतन्य । धूप = अनुभूति का प्रकाशक साक्षीचैतन्य । छाया = अनुभव करने वाला भोक्ताचैतन्य ।

श्लोक २८–२९

कठोपनिषद् की प्रसिद्ध रथकल्पना को यहाँ साक्षी के भोक्तृत्व में प्रमाण रूप से दे रहे हैं । इस श्रुति के अनुसार साक्षी-चैतन्य ही इस शरीर रूपी रथ का स्वामी है । रथचालन आदि सारी क्रिया बुद्धि-सारथी और इन्द्रियादि घोड़ों में होती है । स्वामी निष्क्रिय है पर उसी के लिये सारी क्रिया है । वही यात्रा के मार्ग में दृश्य, वात आदि का एवं गन्तव्यस्थान-प्राप्ति का भोग करता है ।

श्लोक ३४–३५

अगले अध्याय के प्रतिपाद्य विषय की भूमिका रूप से राम का प्रश्न है। यदि सगुणोपासना की सरल प्रक्रिया से अप्रमेय आत्म-तत्त्व को भी प्रमेय बनाकर मोक्षानन्द को प्राप्त कर सकते हैं, तो सभी लोग ऐसी प्रवृत्ति क्यों नहीं करते, जबकि सबके अन्दर उस परमानन्द की पिपासा है — यही जिज्ञासा इस प्रश्न के पीछे है।

इसको पूर्वपक्ष के तर्क रूप से भी ले सकते हैं। अर्थात् — "सर्वसाधारण के प्रत्यक्षसिद्ध प्रवृत्ति अभाव से उस सगुणोपासना की असफलता का अनुमान करेंगे" यह पूर्वपक्ष हो जायेगा। इसके उत्तर में श्रीशिव कहते हैं कि सगुणोपासना की सफलता में श्रुतिप्रमाण अनुमानप्रमाण से प्रबल पड़ता है। अत: लोकप्रवृत्ति-अभाव का कारण अन्य किसी प्रतिबन्धक में निहित है, ऐसा ही मानना उचित रहेगा। ईश्वर के प्रति दृढ़ भक्ति न होना ही यह प्रतिबन्धक है। श्वेताश्वतर श्रुति (६.२३) के अनुसार जिस महात्मा साधक ने ईश्वर और गुरु दोनों की समान रूप से पराभक्ति का संपादन कर लिया है उसीको उपदिष्ट उपनिषद् अर्थ ज्ञान-प्रकाश में परिणत हो सकता है — अन्यथा नहीं। इस प्रकार के अनेक श्रुतिप्रमाण हैं।

ईश्वर-शरणागति के इस प्रसंग में श्लोक ३६, ४३ तथा ४४ की तुलना भगवद्गीता के (७.१४), (९.२७) और (१८.६६) के श्लोकों के साथ करनी चाहिये।

अध्याय १५

प्रश्न से स्पष्ट है कि कैवल्यमोक्ष के साधनभूत अद्वैत-भक्ति की ही यहाँ चर्चा है, न कि द्वैतवादी-सम्मत भक्ति की। कुछ वेदान्ती भी भक्ति को अलग साधन ही नहीं अपितु पंचमकोटी का पुरुषार्थ तक मानने को तैयार हैं। परन्तु यह शुद्ध वैदिक दृष्टिकोण प्रतीत नहीं होता। इस अध्याय में वैदिक रीति से ही भक्ति साधनों का प्रतिपादन है।

श्लोक २ का श्रौत आधार बृहदारण्यक उपनिषद् का यह प्रसिद्ध वचन है—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन ।" इसमें उक्त 'तप' का वर्णन श्लोक ३ से ६ तक आया है। आगे के दो श्लोकों में जपका विधान है। 'अनाशक' नाम से जिस संन्यास धर्म का उपर्युक्त श्रुति में उल्लेख है उसका प्रधानरूप प्रणवानुसन्धान श्लोक ९ से २४ पर्यन्त दिया गया है। इसी विषय पर एक पूरी उपनिषद् माण्डूक्य नाम से प्रसिद्ध है। ओंकारोपासना की प्रधानता वेदों में सर्वत्र प्रतिपादित है। यहाँ श्लोक ९ से १३ तक कठोपनिषद् श्रुति का पूरा अनुकरण है। श्लोक १४ तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षणा वल्ली ४-१ की व्याख्या है।

सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड, अध्याय ५ में किये गये प्रणव विचार से यहाँ का वर्णन अधिक विस्तृत है और कुछ अंश में भिन्न भी। उदाहरणार्थ, यहाँ अर्धमात्रा का भी ध्यान बतलाया है और अकारादि प्रथम तीन मात्राओं के वर्ण रक्त, भास्वर और विद्युदाभ कहे गये हैं। सूतसंहिता के उपर्युक्त अध्याय में अर्धमात्रा का विचार नहीं आया और तीन मात्राओं के रंग क्रमशः रक्त, शुक्ल और कृष्ण हैं। मात्राओं के अन्य अधिष्ठाता देवताओं में भी कुछ अन्तर है। उपासना परिपाटी के भेद से यह भेद समझ लेना चाहिए।

श्लोक २३

"सर्वं रुद्र उच्यते—सारा भूत-भविष्य जगत् रुद्ररूप है" इसका ही प्रतिपादन यजुर्वेद की प्रसिद्ध रुद्री में है। रुद्रहृदयोपनिषद् नाम के लघुग्रन्थ में भी इस विषय के श्लोकों का सुन्दर संकलन है।

अध्याय १६

श्लोक १

"संशयो महान्" के पीछे तात्पर्य यह है:—

निश्वास की तरह सारे वेद अनायास ही जिससे निकलते हैं उन ही महेश्वर के श्रीमुख से रामने इस शास्त्रोपदेश को ग्रहण

किया था । इस दृष्टि से शिवगीता को वेद तुल्य स्थान प्राप्त है। शिवमुख से निकला हुआ उपदेश आगम एवं देवीमुख से प्राप्त निगम — इस प्रकार के विभाजन के अनुसार शिवगीता आगम शास्त्र है । ऋषिप्रणीत धर्म-ब्रह्म-विधायक शास्त्र होने से उसे स्मृति भी मान सकते हैं । पुराणान्तर्गत होने से यह पुराण-स्वरूप तो है ही । शास्त्र प्रकारों में प्रत्येक का अधिकार निरूपण अलग अलग किया गया है । इसलिये यहाँ संशय है कि इन सभी प्रकारों को अपनाई हुई शिवगीता के प्रति कौनसा अधिकारी लक्षण स्वीकार करना चाहिए ।

श्लोक ४–६

अधिकारी के लक्षण बतलाकर अनधिकारी का भी स्पष्ट निर्देश करते हैं, जिससे अतिव्याप्ति दोष या किसी प्रकार का भ्रम न हो ।

जडः, अन्धः आदि कर्मवर्जितों के लिये कुछ उदाहरण मात्र हैं। उपलक्षणा से उन सभी पुरुषों का संग्रह है जो किसी विवशता से स्वधर्म कर्म का त्याग करते हैं । उनके लिये चित्तशुद्धि का उपाय प्राप्त न होने से गीता के ब्रह्मोपदेश में प्रवेश असंभव है ।

श्लोक ४ में "नान्यचित्तः कथंचन" से शिवभक्ति-हीन का उल्लेख हो चुका है । अतः पुनरावृत्ति को हटाने के लिये श्लोक ५ के "अभक्ताः" से शिवभक्तों की भक्ति या गीताश्रवण में आसक्ति रहितों का ग्रहण करलेना चाहिये ।

शिवगीता वैदिक परम्परा का ग्रन्थ है, न कि किसी शैवपन्थ विशेष का । विष्णु के द्वेषकों को शिवद्वेषियों के साथ अनधिकारी घोषित करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है । वेदानुसार स्मृति, इतिहास, पुराण आदि में भी सैकड़ों जगह हरि-हर अभेद की स्तुति व भेद करनेवालों की निन्दा की गई है । इस अभेद को लाने के लिये ही कुछ पुराणों में सृष्टि-स्थिति-संहार के तीन जगत व्यापारों

का सांकर्य ब्रह्मा-विष्णु-महेश में दिखाया गया है। अर्थात् किसी कल्प में रुद्र ही सृष्टि करते हैं और विष्णु संहार। फिर भी संकुचित देवता-दृष्टिवाले पन्थाई वैष्णव शिव को तामसिक मानकर उनके दर्शनादि का निषेध करते हैं। शैव विष्णु को जीव मानकर उपेक्षा करते हैं। यही नहीं, इन्हो प्रवृत्तियों को इष्टनिष्ठा के नाम से पुष्ट भी करते हैं। यह सर्वथा असत्य और अवांछनीय है। इस विषय में हरिवंश में श्रीशिव का यह उपदेश चिन्तनीय है—

अहं त्वं सर्वगो देवस्त्वमेवाहं जनार्दन
आवयोरन्तरं नास्ति शब्दैरर्थैर्जगत्पते ॥
त्वदुपासा जगन्नाथ सैवास्तां मम गोपते ।
यश्चत्वां द्वेष्टि गोविन्द स मां द्वेष्टि न संशयः ॥

हे जनार्दन! आप मेरा ही स्वरूप हो और सर्वव्यापक चैतन्यदेव मैं ही आप (विष्णु) का रूप धारण करता हूँ। हे जगत्पते! शब्द (नाम) से एवं अर्थ (रूप, लीला, गुण) से हमारे दोनों में कोई अन्तर नहीं। जगन्नाथ! गोपाल की उपासना मेरी ही उपासना है और जो गोपति आप गोविन्द से द्वेष करता है वह मेरा ही विद्वेषक है, इस में तनिक भी संशय नहीं।

श्लोक ७–८

पूर्व श्लोकों में कहा गया था कि कर्मवर्जित पुरुष अनधिकारी है। इसमें यहाँ संशोधन है कि केवल कर्ममात्र में कामनापूर्वक रत रहनेवाला ज्ञान-भक्ति की ओर प्रवृत्तिहीन हो तो वह भी अनधिकारी है। "अवैदिक कर्म में रत" ऐसा कहने में सूक्ष्मध्वनि है कि वैदिक कर्म को कामनापूर्वक भी करे तो वैदिकत्व के अपूर्व प्रभाव से कालान्तर में कामना मल से शुद्धि होने पर निष्काम-योग में प्रवृत्ति सम्भव है।

श्लोक ९–१०

"केवल कर्माचरण से मुक्ति नहीं" इस में पूर्वपक्ष रूप से प्रश्न उठता है कि काशीवास से मुक्ति का लाभ प्रामाणिक है या नहीं। इसी का यहाँ उत्तर है।

"काश्यां मरणान् मुक्तिः" इस सिद्धान्तपक्ष का युक्तियुक्त समर्थन वार्तिककार श्रीसुरेश्वर आदि आचार्यों ने किया है। इससे यहाँ "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" का विरोध नहीं, क्योंकि काशी-मरण स्वयं मुक्ति का कारण न होकर प्रणवार्थ–उपदेश–प्राप्ति का ही हेतु है। इस उपदेश श्रवण से ज्ञान व ज्ञान से सद्योमुक्ति मानी गई है। काशी में देहत्याग करनेवाला जीव यदि पूर्व पाप मलों से युक्त होने के कारण प्रणवोपदेश के लिये अयोग्य हो तो मरण के अनन्तर काल भैरव की यातना को सूक्ष्म शरीर से भोगना पड़ता है एवं उससे शुद्ध हो शिवोपदेश प्राप्त करता है। शुद्ध आचरण वाले जीव को मरण क्षण में ही उपदेश मिल जाता है। अतः इस तीर्थसेवन में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। अन्यत्र किये हुए पापों का तीर्थ में प्रायश्चित होता है पर तीर्थों में किये हुए पाप वज्रवत् अकाट्य हैं। काशी खण्ड में कहा गया है :—

अशनं व्यसनं वासः काश्यां येषाममार्गतः।
कीकटेन समा काशी गंगाप्यंगारवाहिनी ॥

यद्यपि मरणोपरान्त मुक्ति की सार्वभौम व्यवस्था केवल काशी के लिये ही की गई है, फिर भी द्वारिकादि अन्य कुछ मोक्ष-नगरियों का भी उल्लेख मिलता है। इन क्षेत्रों में प्राण-त्याग से अगले जन्म में काशीक्षेत्र में मरण तथा मुक्ति मानकर इस विषय में समन्वय किया जाता है।

श्लोक ११–१२

द्वितीय श्लोक में उपवीत रहित को भी इस अध्ययन में अधिकार बताया था। उसीके विषय में यहाँ विवरण दिया गया है।

वैदिक संस्कार रहितों को भी पितरों के लिये उदक व पिण्डदान अनिवार्य रूप से करना चाहिए, जिसमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग निर्दुष्ट है। इसी प्रकार पुराण-श्रवण के अन्तर्गत श्रुतिमन्त्रों के श्रवण में भी इनका अधिकार प्राप्त हो जाता है। वैदिक उपासना की जगह पर नाम कीर्तन, ध्यान आदि करने से इनके लिये समान फल की प्राप्ति है। अतः आगे के श्लोकों में ध्यान की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते हैं।

श्लोक १४–१६

ध्यानेतर कर्मों में "मैं अमुक जाति का एवं अमुक आश्रम का हूँ" ऐसा अभिमान अनिवार्य है, अन्यथा ब्राह्मण का कर्म ब्राह्मणेतर या गृहस्थ का कर्म संन्यासी के द्वारा किये जाने पर अधर्म ही होता है। ध्यान में इस अभिमान की आवश्यकता ही नहीं। इसी प्रकार जैसे अन्य कर्म के आचमन, संकल्प, न्यास आदि अंगों से रहित होने पर फलसिद्धि में न्यूनता या अत्यन्ताभाव की प्रसक्ति है वैसे ध्यान में नहीं। पुण्यतीर्थ, पुण्यकाल व आसन के प्रभाव आदि के भेद से भी इसमें फल भेद नहीं। जप, पूजादि में द्रव्य आदि के अनुसार क्या फल भेद है, इसका कुछ प्रतिपादन श्लोक २५ के आगे हुआ है।

शास्त्रीय विहित कर्म भी काम्य, नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त भेद से चार प्रकार के हैं। काम्य कर्म किसी कामना की पूर्ति के लिये ही विहित होता है। उदाहरणार्थ — "पुत्र कामना वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करे" "वृष्टि की इच्छा वाला कारीरि-याग करे" आदि वेदवाक्य। नित्यकर्म का विधान होने पर भी उससे प्राप्त फल का निर्देश नहीं है। अतः उसको करने से पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी विधान इसलिये कि उस कर्म का अनुष्ठान न होने से अनिष्ट की प्राप्ति होती है। इस अनिष्ट को 'प्रत्यवाय' कहते हैं। कुछ तामसिक एवं अवैदिक साधना परंपरायें

ऐसे कर्मों का उपदेश देती हैं जिससे सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों के एवं अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि व्रतपालन के साथ विरोध होता है। शीघ्र फलसिद्धि के प्रलोभन से इन साधनों को मूढ़जन अपनाते हैं। इसका अन्तिम परिणाम बुरा होता है। ध्यान शीघ्र फल देते हुए भी नित्य कर्मों का विरोधी नहीं। ध्यानाभ्यास के नाम से कर्तव्य का त्याग करना तो आलस्यादि अवगुणों के लिये आड़ बनाना ही है।

श्लोक १७–१८

ध्यान की उत्कृष्टता बतलाने के बाद यहाँ नाम संकीर्तन या जप की महिमा कह रहे हैं। श्लोक १७ इसके अर्थवाद में है। यह महिमा तभी कार्य करने लगती है जब दश नामापराधों से वर्जित हो।

प्रायः भगवान के सभी नाम मन्त्रात्मक ही होते हैं। फिर भी मन्त्र से उन विशेष शब्दों का उल्लेख है जिन में मन्त्र-शास्त्रानुसार रचना के द्वारा मातृका शक्तियों का विशेष संचार किया गया है, अतः इन मन्त्रों के प्रयोग में भी विशेष नियम होते हैं। यहाँ पञ्चाक्षरी मन्त्र का प्रधान मन्त्र रूप से उल्लेख है। "नमः शिवाय" यह पाँच अक्षरों का मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद का है। अ, उ, म, बिन्दु और नाद से युक्त ओंकार का यह सरलतम सर्वसाधारणोपयोगी प्रतीक माना जाता है। पञ्चमुखी परमेश्वर का यह साक्षात् वाङ्मय विग्रह है। शास्त्रों में सर्वत्र इसकी महिमा गाई गई है। आचार्य शंकर के पट्टशिष्य पद्मपादाचार्य ने इस मन्त्रार्थ के ऊपर एक लघुभाष्य की रचना की थी जिससे इस मन्त्र की वैदिक-परंपरा-मान्य गरिमा का अनुमान होता है।

श्लोक २०

शिवदृष्टि की वृद्धि में ही सारे साधन कर्मों की सार्थकता है। इस आधारभूत उद्देश्य को गत श्लोक में पुनः दृढ़ करके

अत्यन्त करुणामयी शिववाणी अति अशक्त मुमुक्षुओं के लिये विशेष विधान कर रही है। यहाँ ध्यान और नामजप से भी सरल उपाय रूप से भस्म-रुद्राक्ष-धारण करने का विधान है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्य कर्म सम्भव नहीं हों तो कम से कम भस्म-रुद्राक्ष को नियम से धारण करने पर भी शिवगीता अध्ययन का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

श्लोक २५

अधिकारी निरूपण सम्पूर्ण हो गया है। पूर्व श्लोकों में मोक्षसाधन की योग्यता प्राप्ति के लिये कई सरल साधनों का उल्लेख हुआ। शिवलिंगार्चन भी इनमें से एक प्रसिद्ध साधन है, जिनका पूरा विवरण अभी तक उपदिष्ट नहीं हुआ है। इस कमी की पूर्ति के लिये यहाँ प्रकरण रूप से प्रश्न किया जा रहा है।

उत्तर को देखते हुए प्रश्न में "कुत्र कुत्र पूजितः" से उपलक्षणा के द्वारा पूजा और तदंग मन्त्रजप के विषय, प्रकार आदि अन्यान्य उपकरणों की जिज्ञासा समझ लेनी चाहिये।

श्लोक ३४–३५

क्रमशः उत्तरोत्तर दशगुण श्रेष्ठतर जपस्थान और जपकाल की सूची इस प्रकार है :—

देश	काल
अपना शुद्ध गृह	शुभ समय
गोशाला	सूर्य संक्रान्ति
जलाशय तट	विषुव योग
देवालय	कर्क संक्रान्ति
तीर्थ भूमि	मकर संक्रान्ति
नदी तट	चन्द्रग्रहण
तीर्थ नदी तीर	सूर्यग्रहण

ऐसे कर्मों का उपदेश देती हैं जिससे सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों के एवं अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि व्रतपालन के साथ विरोध होता है। शीघ्र फलसिद्धि के प्रलोभन से इन साधनों को मूढ़जन अपनाते हैं। इसका अन्तिम परिणाम बुरा होता है। ध्यान शीघ्र फल देते हुए भी नित्य कर्मों का विरोधी नहीं। ध्यानाभ्यास के नाम से कर्तव्य का त्याग करना तो आलस्यादि अवगुणों के लिये आड़ बनाना ही है।

श्लोक १७–१८

ध्यान की उत्कृष्टता बतलाने के बाद यहाँ नाम संकीर्तन या जप की महिमा कह रहे हैं। श्लोक १७ इसके अर्थवाद में है। यह महिमा तभी कार्य करने लगती है जब दश नामापराधों से वर्जित हो।

प्रायः भगवान के सभी नाम मन्त्रात्मक ही होते हैं। फिर भी मन्त्र से उन विशेष शब्दों का उल्लेख है जिन में मन्त्र-शास्त्रानुसार रचना के द्वारा मातृका शक्तियों का विशेष संचार किया गया है, अतः इन मन्त्रों के प्रयोग में भी विशेष नियम होते हैं। यहाँ पञ्चाक्षरी मन्त्र का प्रधान मन्त्र रूप से उल्लेख है। "नमः शिवाय" यह पाँच अक्षरों का मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद का है। अ, उ, म, बिन्दु और नाद से युक्त ओंकार का यह सरलतम सर्वसाधारणोपयोगी प्रतीक माना जाता है। पञ्चमुखी परमेश्वर का यह साक्षात् वाङ्मय विग्रह है। शास्त्रों में सर्वत्र इसकी महिमा गाई गई है। आचार्य शंकर के पट्टशिष्य पद्मपादाचार्य ने इस मन्त्रार्थ के ऊपर एक लघुभाष्य की रचना की थी जिससे इस मन्त्र की वैदिक-परंपरा-मान्य गरिमा का अनुमान होता है।

श्लोक २०

शिवदृष्टि की वृद्धि में ही सारे साधन कर्मों की सार्थकता है। इस आधारभूत उद्देश्य को गत श्लोक में पुनः दृढ़ करके

अत्यन्त करुणामयी शिववाणी अति अशक्त मुमुक्षुओं के लिये विशेष विधान कर रही है। यहाँ ध्यान और नामजप से भी सरल उपाय रूप से भस्म-रुद्राक्ष-धारण करने का विधान है। तात्पर्य यह है कि यदि अन्य कर्म सम्भव नहीं हों तो कम से कम भस्म-रुद्राक्ष को नियम से धारण करने पर भी शिवगीता अध्ययन का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

श्लोक २५

अधिकारी निरूपण सम्पूर्ण हो गया है। पूर्व श्लोकों में मोक्षसाधन की योग्यता प्राप्ति के लिये कई सरल साधनों का उल्लेख हुआ। शिवलिंगार्चन भी इनमें से एक प्रसिद्ध साधन है, जिनका पूरा विवरण अभी तक उपदिष्ट नहीं हुआ है। इस कमी की पूर्ति के लिये यहाँ प्रकरण रूप से प्रश्न किया जा रहा है।

उत्तर को देखते हुए प्रश्न में "कुत्र कुत्र पूजितः" से उपलक्षणा के द्वारा पूजा और तदंग मन्त्रजप के विषय, प्रकार आदि अन्यान्य उपकरणों की जिज्ञासा समझ लेनी चाहिये।

श्लोक ३४–३५

क्रमशः उत्तरोत्तर दशगुण श्रेष्ठतर जपस्थान और जपकाल की सूची इस प्रकार है :—

देश	काल
अपना शुद्ध गृह	शुभ समय
गोशाला	सूर्य संक्रान्ति
जलाशय तट	विषुव योग
देवालय	कर्क संक्रान्ति
तीर्थ भूमि	मकर संक्रान्ति
नदी तट	चन्द्रग्रहण
तीर्थ नदी तीर	सूर्यग्रहण

सप्तगंगा (गंगा, गोदावरी, कावेरी ताम्रपर्णी, सिन्धु और नर्मदा) के तीर	महापुरुषों के संग का काल
समुद्रतट	
पर्वत शिखर	

श्लोक ६५

यह शिवगीता उपदेश का अन्तिम श्लोक है। सर्वप्रथम श्लोक में "अथातः संप्रवक्ष्यामि शुद्धं कैलल्यमुक्तिदं" कहके प्रारम्भ किया था और यहाँ "श्रवणादेव यस्मात् कैवल्यमाप्नुयात्" से समाप्त कर रहे हैं। इससे उपक्रमोपसंहार की एकता होने से समस्त उपदेश का तात्पर्य कैवल्यमोक्ष की प्राप्ति सिद्ध हो रहा है।

श्लोक ६६–६७

इन श्लोकों में प्रश्नोपनिषद् के अन्तिम मन्त्र प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ज्ञान (भा) में रत रहना, उसकी प्राप्ति को ही जीवन का उन्नततम उद्देश्य स्वीकार करना, उस प्राप्ति को करानेवाले श्रीगुरु को आजीवन पूज्यतम मानना — ये सच्चे भारतीय के लक्षण हैं। इन्हीं का उद्घोष इन पंक्तियों में है।

श्रवणजन्य शुद्ध ज्ञान से सन्तुष्ट होकर गोमती तट पर सन्ध्योपासना में निरत रहनेवाले ऋषियों के दृश्य के द्वारा उस शाश्वत-जीवन-आदर्श का प्रतीकात्मक चित्रण है जिसमें सनातन वैदिक विद्या-प्रवाह के कूल पर स्थित हो, ज्ञानी पुरुष काम रहित होकर कर्त्तव्यमय जीवन का शिवचर्या रूप से प्रसन्नता पूर्वक निर्वाह करते हुए जीवन्मुक्ति का आनन्द ले रहे हैं।

उपसंहार – मंगलाचरण

इति लौकिकभाषायां शिवगीतारसाप्तये ।
ईशप्रासादिका प्रोक्ता तया संप्रीयतां शिवः ।।
श्रद्धागर्भगृहान्तस्थां श्रुतिमूर्धिनस्फुरत्पदाम् ।
संवित्स्वरूपिणीं वन्दे स्वात्मबुद्धया परां शिवाम् ।।

इति — जनसाधारण को शिवगीता का रसास्वादन प्राप्त हो, इस दृष्टि से हिन्दी भाषा में ईशप्रासादिका नामक व्याख्या की रचना हुई । यह कृति शिव-तोषकरी हो ।

श्रद्धा रूपी गर्भगृह में जिनका दर्शन उपलब्ध है, जिनका पद (स्वरूप) श्रुति के शिरोभाग (वेदान्त) में प्रकाशमान हो रहा है, ऐसी संवित् स्वरूपिणी, भगवती परा-शिवा की मैं स्वात्मबुद्धि से वन्दना करता हूँ ।।

।। ईशप्रासादिका नामक हिन्दी व्याख्या संपूर्ण हुई ।।

श्लोकानुक्रम

आ

इ

द

फ

ब

ह

क्ष

त्र

